

# समस्य

जुलाई-सितंबर, 2020 ♦ नई दिल्ली



जब ब्रिटिश सरकार ने बंगाल के बंटवारे का ऐलान किया तो इसका विरोध करते हुए रवींद्रनाथ टैगोर ने राखी को एक अलग ही अर्थ दे दिया.

पेज-21



कोलकाता के दुर्गा पूजा पंडाल में  
अपने बच्चों के साथ प्रवासी मजदूर महिमा माँ दुर्गा के रूप में

# नाहि तो जन्म नसाई

समरथ के पिछले कई अंकों के इन पृष्ठों में हम लिख चुके हैं कि हमारे देश का संविधान हमारी उस साझा विरासत का प्रतीक है जिसकी संरचना में विभिन्न नस्लों, धर्मों और भाषाओं ने हिस्सा लिया है और ये विरासत हजारों साल की ऐतिहासिक प्रक्रिया का नतीजा है। हमारे रस्मों-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, वस्त्र और भाषाएँ इसका जीता-जागता सबूत हैं। भिन्नता और बहुलता के जितने रंग हमें अपने मुल्क में बिखरे हुए नजर आते हैं वो उसके सौंदर्य को बढ़ाते हैं। ये वह ऐतिहासिक सच्चाई है जिसका एहसास हमारे संविधान के जन्मदाताओं को था और इसकी झलक हमारे स्वतंत्रता आंदोलन, उसके स्वरूप और उसके उद्देश्यों और आदर्शों में भी साफ तौर पर नजर आती है। हमारे रहनुमाओं ने आजादी के बाद के भारत के बारे में जो सपना देखा था वो एक ऐसे देश के बारे में था जिसकी नींव एक भाषा या एक धर्म की बजाय जनतंत्र, समाजी और लैंगिक समानता, धार्मिक स्वतंत्रता और भाषाई विविधता पर खड़ी हो जिन्हें संविधान की मौलिक संरचना में विशेष महत्व दिया गया और इसमें किसी तरह के बदलाव को लगभग असंभव बना दिया गया। प्रसिद्ध इतिहासकार रामचंद्र गुहा ने इसी बुनियाद पर हमारे राष्ट्रवाद को संवैधानिक राष्ट्रवाद की संज्ञा दी है। देश की इस बहुलता में एकता के विषय में रवींद्रनाथ टैगोर ने एक बार कहा था कि कोई नहीं जानता कि किसके आह्वान पर लोगों के समूह के समूह अशांत लहरों और बेचैन धारों की तरह अज्ञात जगहों से बहते हुए यहां आकर एक बड़े समुद्र में मिल गए। आर्य, अनार्य, द्रविड़, चीनी, शक, हूण, पठान और मुगल यहाँ पहुँचकर एक शरीर और एक जान बन गए हैं।

संविधान की मौलिक संरचना में निहित होने के बावजूद हमारे देश की इस विशेषता को बरकरार रखना और उस पर किसी तरह की आंच न आने देना संविधान की नहीं हमारी जिम्मेदारी है। और अगर समाज में ऐसी विघटनकारी शक्तियाँ मौजूद हों जो साझी विरासत की परिकल्पना के विरुद्ध सक्रिय हों तो उनसे जूझना भी हमारा काम है जिससे कि मुल्क की एकता और अखंडता सुनिश्चित रहे और ये केवल वैज्ञानिक सोच, तर्कपूर्ण सामाजिक विश्लेषण और वास्तविक इतिहास बोध से ही संभव है जिसे निरंतर वार्तालाप, तर्क-वितर्क और वाद-विवाद से शक्ति मिलती है।

अगर समाज में तनाव और टकराव का अंत सिर्फ संविधान और कानूनी मशीनरी द्वारा संभव होता तो लगभग ढाई सौ साल के संवैधानिक शासन के बाद भी दुनिया के सबसे पुराने गणतंत्र कहलाने वाले देश अमेरिका में अश्वेतों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार न होता जिसकी कुछ दर्दनाक मिसालें हमें हालिया दिनों में देखने को मिली हैं और हमारे पड़ोसी मुल्कों में आए दिन घटती रहती हैं और दुर्भाग्य से हमें अपने यहां भी इनका सामना करना पड़ रहा है।

साझी संस्कृति हमारी एक बहुमूल्य धरोहर है और हमारे देश की सबसे बड़ी पहचान और उसका सौंदर्य है। बक्रौल जौक :

गुलहाय रंग-रंग<sup>1</sup> से है जीनत-ए-चमन<sup>2</sup>  
ए जौक इस जहान को है जेब<sup>3</sup> इख्तिलाफ<sup>4</sup> से

1. भिन्न-भिन्न के फूल, 2. बाग की सौंदर्यता, 3. सौंदर्य, 4. भिन्नता



## डॉ. विजय शर्मा

शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत

स्वतंत्र लेखन व

सामाजिक सरोकारों में सक्रिय

आगरा में निवास

## प्रारंभ से पहले ही...

ये कौन-सा काल है भयभीत भविष्य वाला ?  
कौन-सा समय है अनिश्चितताओं से भरा ?  
कैसे लोग हैं यहाँ हृदयहीन रक्त पिपासु ?  
क्या ऐसे ही समय में जीना होगा ?  
पीना होगा लहू सभ्यता का ?  
उत्सर्ग मानवता का इसी बलि वेदी पर होगा ?  
निकृष्ट राजा, उन्मत्त दरबारी  
और छिछोरे सामन्तों के इस युग को  
कोई साफ़ कर दो इतिहास से  
वरना सोचो  
क्या मुँह लेकर हम जिएंगे  
अगली पीढ़ी के सामने ?  
ये जो रिस रहा है श्वेत प्रदर सा  
धर्मों की योनि से  
रोको इसे वरना बाँझ हो जायेगी ये भूमि  
फिर न कोई जन्मेगा इसमें बुद्ध  
जो शाश्वत सत्य की तरह उठा दे ऊँगली...  
रोको कि फैल जाए ये नसों में तुम्हारी  
इस से पहले काट फेंको  
इस सड़े गले पुरुषार्थ को  
क्योंकि भला है इस से कि  
शिखंडियों की तरह खड़े रहें हम  
अर्जुन को बचाने के लिए  
हम रोक दें इस महापर्व को  
प्रारंभ से पहले ही...

## नदी कितनी सारी है

कितनी भावुक होती है एक नदी  
प्रस्तर जैसे हिमखंड से  
बूंद-बूंद करके  
जमा कर लेती है तरलता देह भर  
और पाकर एक दरार  
बह कर निकल जाती है उस पार  
जहां घाटी हैं, जीवन है और जंगल हैं।

इतनी बहादुर है नदी,

ऊंची पहाड़ियों से उछल कर,  
कूद जाती है तीखे शिलाखंडों पर  
और बदल देती है उनको  
मृदुल गोल चिकने शैल खंडों में,  
अकेले जंगल में बहती है,  
तीखे मोड़ पार करती है  
हजारों विषैले वनचरों को  
पिलाती जल, देती जीवन।

इतनी सौम्य है नदी  
विशाल मैदान में  
फैल जाती है  
हरीतिमा उसके आते ही  
शैवाल, जलचर और मनुष्य  
सब को आत्मसात करके  
बढ़ती रहती है।

कितनी उदार है नदी  
प्राणवायु देकर  
ले लेती है समस्त  
विषपूर्ण जो हम उसे देते हैं अर्घ्य में।

कितनी पावन है नदी  
वापस लौट जाती है  
उसी तरह बूंद-बूंद करके  
आसमान में  
बिना कुछ हमारा साथ लिए  
अपना सब कुछ हमको दे

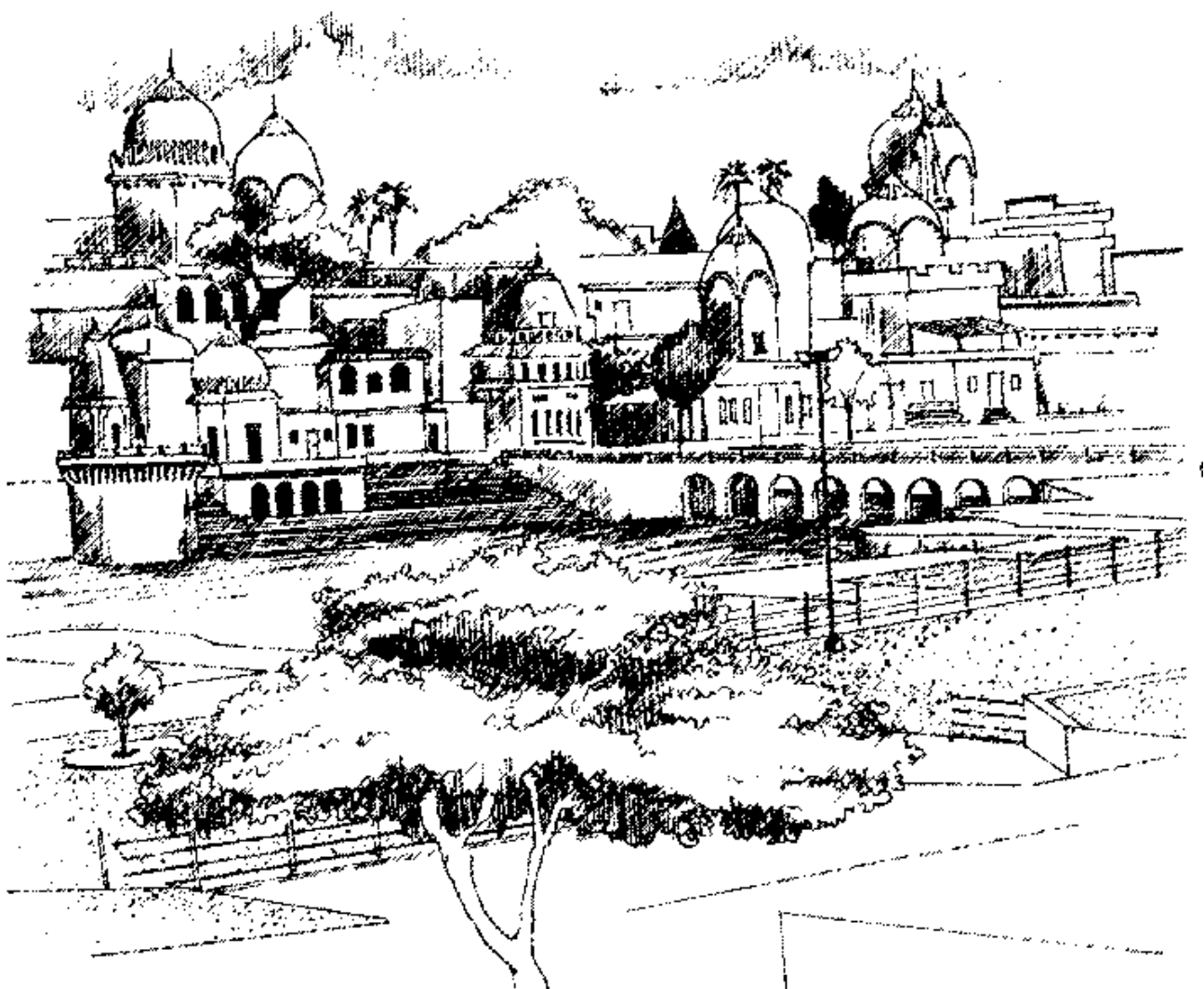
नदी कितनी सारी है  
नदी...

---

# अयोध्या : नये राम मंदिर के लिए ढहाया गया तीन सौ साल पुराना ऐतिहासिक राम जन्मस्थान मंदिर

■ सुमन गुप्ता

---



300 साल पुराना जन्मस्थान मंदिर 1980 के दशक में शुरू हुए रामजन्मभूमि आंदोलन के पहले राम के जन्म से जुड़ा था और एक मुस्लिम जमींदार द्वारा दान दी गई जमीन पर बनाया गया था। यह राम की सह-अस्तित्व वाली उस अयोध्या का प्रतीक था, जिसका

नामो-निशान अब नज़र नहीं आता।

अयोध्या के कोट रामचंद्र में रामलला के नये और भव्य राम मंदिर के निर्माण के लिए 'जन्मस्थान' मंदिर को 27 अगस्त 2020 को ढहा दिया गया। श्री रामजन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र ट्रस्ट की निर्माण

---

## 4 • समरथ

जुलाई-सितंबर, 2020

समिति ने नये राम मंदिर के विस्तारीकरण के लिए लगभग सवा तीन सौ साल पुराने जन्मस्थान मंदिर को नेस्तनाबूद कर दिया। जन्मस्थान मंदिर 319 साल पुराना था, जिसके लिए एक मुस्लिम जमींदार मीर मासूम अली ने जमीन दान की थी। यह मंदिर अयोध्या में सांप्रदायिक सौहार्द के लिए भी जाना जाता था।

यह इस मायने में भी अपने आप में अनूठा था कि जब भी अयोध्या में कोई महंती होती थी, तो महंत यहां रसीद कटवाकर अपना नाम रजिस्टर करवाता था कि वह फलां मंदिर का महंत बन गया है। 'तड़ गूदड़ रामचंद्र' का यह प्रमुख मंदिर था। एक तरह से कहा जाए तो महंतों की महंती की मुहर इसी मंदिर से लगा करती थी। महंत गुदड़ी धारण करते थे और यही गुदड़ी ओढ़ाकर महंती दी जाती थी।

यह स्थान बाबरी मस्जिद के ठीक बगल में था, जिसे हनुमानगढ़ी से दोराही कुंआ की ओर जाने वाली सड़क विभाजित करती थी। 319 वर्ष पहले जब मुस्लिम जमींदार मासूम अली द्वारा दान दी गई जमीन पर राम के जन्मस्थान के रूप यह मंदिर बना था, उस समय बाबरी मस्जिद में कोई मूर्ति नहीं थी और न ही उसके तीन गुंबदों के नीचे कोई पूजा-पाठ होता था। बाबरी मस्जिद में मूर्ति 22/23 दिसंबर 1949 की रात में अयोध्या के कुछ साधुओं द्वारा रखी गई थी, जिसकी एफआईआर दर्ज हुई थी और मुकदमा भी चला।

1870 में अवध गवर्नमेंट प्रेस में अयोध्या-फैजाबाद के तत्कालीन सेटलमेंट ऑफिसर पी। कारनेगी की रिपोर्ट 'द हिस्टोरिकल स्केच ऑफ तहसील फैजाबाद जिला फैजाबाद विथ ओल्ड कैपिटल अयोध्या एंड फैजाबाद छपी। इस रिपोर्ट में पी. कारनेगी ने अन्य तथ्यों के अलावा अयोध्या में धार्मिक महत्व के स्थानों की 'लिस्ट ऑफ सेक्रेड प्लेस इन अयोध्या' की सूची भी दी। इस सूची में 'जन्मस्थान' पहले नंबर पर दर्ज है, जिसमें इस बात का उल्लेख है कि जन्मस्थान को मीर मासूम अली जमींदार ने एक एकड़ से अधिक जमीन माफी (रेंट फ्री लैंड) दान में दी थी। यह स्थान तड़ गूदड़ रामचंद्र तथा महंत रामदास द्वारा स्थापित किया जाना दर्ज है। पी. कारनेगी ने जन्मस्थान को 166 वर्ष पुराना बताया है। जन्मस्थान में संप्रदाय के 22 साधुओं का मंदिर परिसर में रहना भी दर्ज है। कारनेगी ने यह रिपोर्ट 1867-68 में रिकॉर्ड की थी। जन्मस्थान कोट रामचंद्र, जिसे रामकोट भी कहा जाता था, का समृद्ध और आकर्षक मंदिर था। इस ऐतिहासिक मंदिर का अपना खास महत्व रहा।

1984 से पहले तक जन्मस्थान में श्रद्धालु बेरोकटोक दर्शन पूजन करने आते थे। स्थापित परंपरा थी कि श्रद्धालु दर्शनार्थी हनुमानगढ़ी से मंदिरों का दर्शन शुरू करते थे और कनक भवन, दशरथ महल, राम खजाना, रत्न सिंहासन, रंग महल और रास्ते में पड़ने वाले

अन्य मंदिरों का दर्शन करते हुए जन्मस्थान और रामचबूतरा (जन्मभूमि) तक पहुंचते थे। यह सभी मंदिर कोट रामचंद्र इलाके में ही बने थे। यही इलाका सबसे समृद्ध इलाका भी कहलाता था।

जैसे-जैसे अयोध्या में राम मंदिर के नाम पर हिंदुत्ववादी आंदोलन चरम पर पहुंचता गया वैसे-वैसे अयोध्या के रामकोट स्थित मंदिरों पर संकट बढ़ता गया। अयोध्या रामकोट के एक छोटे-से इलाके का विवाद राष्ट्रीय राजनीति का केंद्र बिंदु बन गया। आए दिन होने वाले आंदोलन के कारण आम श्रद्धालुओं और साधु-संतों का इस क्षेत्र में प्रशासनिक रोक-टोक, सुरक्षा प्रबंधों के कारण आना कम होता गया।

1984 के आस-पास इस मंदिर के आवासीय हिस्से में रामकोट, डाकघर बन गया। 1991 में जन्मस्थान के इसी के ऊपरी हिस्से में पुलिस प्रशासन ने कंट्रोल रूम बना दिया, जिससे श्री रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवादित परिसर पर होने वाली गतिविधियों पर नजर रखी जा सके। 6 दिसंबर 1992 को यह कंट्रोल रूम उत्तर प्रदेश के वरिष्ठ पुलिस व प्रशासनिक अधिकारियों का जमघट बन गया था, जहां से वे मूकदर्शक होकर बाबरी मस्जिद को ध्वस्त होते देख रहे थे।

फिर भी 1993 में केंद्र सरकार द्वारा रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद के आस-पास के 67 एकड़ जमीन के अधिग्रहण के पूर्व तक जन्मस्थान मंदिर में श्रद्धालुओं और साधु-संतों का आना-जाना था और मंदिर के महंत सुखराम दास और उनके शिष्य तथा पुजारी ठाकुर का भोग, राग आरती करते रहे।

बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद 1993 में केंद्र की पीवी नरसिम्हाराव सरकार ने रामकोट के इस विवादित परिसर सहित आस-पास की 67.703 जमीनों का अधिग्रहण कर लिया, जिसमें जन्मस्थान सहित दर्जन भर छोटे-बड़े मंदिर एवं अन्य स्थल भी शामिल थे। इस अधिग्रहण के बाद अधिग्रहित मंदिरों में ठाकुरजी के भोग राग, आरती के लाले पड़ गए। इस अधिग्रहण के साथ ही बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद वहां कारसेवकों द्वारा उसी मलबे पर जल्दबाजी में बनाए गए अस्थायी रामलला मंदिर तक जाने के लिए लोहे की पाइप से बनाया गया जिग-जैग रास्ता सिर्फ इस अस्थायी रामलला मंदिर को जाता था। जो भी चढ़ावा होता था वह इसी मंदिर तक सीमित हो गया था। अधिग्रहीत क्षेत्र के अन्य मंदिरों में जाने के रास्ते पर अवरोध बना दिए गए थे। जन्मस्थान विवादित रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद परिसर के बगल में था। जन्मस्थान को जाने वाली सड़क को ही बंद कर दिया गया, जिससे श्रद्धालु यहां तक पहुंच ही नहीं सकते थे सिर्फ अस्थायी रामलला के मंदिर तक जाने के लिए जिगजैग रास्ता बना दिया गया था।

अदालती कारणों से अस्थायी मंदिर पर चढ़ने वाला चढ़ावा सिर्फ उसी के उपयोग में लाया जा सकता था, दूसरे मंदिरों के लिए खर्च नहीं किया जा सकता था। श्रद्धालु संगीनों के साथे में अस्थायी रामलला मंदिर का ही दर्शन होता था। अन्य मंदिर श्रद्धालुओं के लिए तरस जाते थे। श्रद्धालुओं की अन्य मंदिरों तक पहुंच सरकारी व्यवस्था से समाप्त हो गई थी। इसके कारण जन्मस्थान जैसे समृद्ध मंदिर की कौन कहे, रामकोट के इस क्षेत्र के अधिकांश मंदिरों अन्य मंदिरों में भी पूजा-अर्चना को तरस गए, जो इस अधिग्रहण का हिस्सा नहीं थे।

2020 में राम के जन्मस्थान के रूप में जाने जा रहे जन्मस्थान मंदिर को श्री रामजन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र ट्रस्ट द्वारा 27 अगस्त को बुलडोजर और जेसीबी से ढहा दिया गया। वहीं, इसके पहले कारसेवकों ने 6 दिसंबर 1992 को बाबरी मस्जिद के साथ ही बाबरी मस्जिद परिसर में बने 'रामचबूतरा' और 'सीतारसोई' को भी नेस्तनाबूद कर दिया था... 'रामचबूतरा' को 'जन्मभूमि' के रूप में जाना जाता था तथा जहां 1885 के पहले से 6 दिसंबर 1992 तक इसके ध्वस्त किए जाने के पहले तक निरंतर पूजा होती आ रही थी।

'रामचबूतरा' और 'सीतारसोई' वह स्थान थे, जिस पर निर्मोही अखाड़े के साधु 1885 (यानी 1949 के पहले से पूजा करते आ रहे थे जिसके कारण ब्रिटिश सरकार को एक लोहे की सींखचों वाली दीवार बनाकर बाबरी मस्जिद को रामचबूतरा तथा सीतारसोई अलग करनी पड़ा, जिससे दोनों ही समुदाय बिना किसी विवाद के अपने-अपने धर्म का पालन कर सकें) से पहले से पूजा करता आ रहा थे।

इसी रामचबूतरे पर मंदिर बनाने के लिए निर्मोही अखाड़े महंत रघुवर दास ने 1885 में अनुमति प्राप्त करने के लिए मुकदमा दायर किया था, जिसकी अनुमति उन्हें नहीं मिल सकी। इसके खिलाफ दायर की गई पहली अपील और जुडिशियल कमिश्नर ऑफ अवध की कोर्ट में दायर दूसरी एवं अंतिम अपील में भी राहत नहीं मिली। (इस समय तक रामचबूतरा भी राम के जन्मस्थान के रूप में ही जाना जाता था जैसा कि महंत रघुवरदास ने अपने मुकदमे में लिखा था)। इस प्रकार 1885 में रामचबूतरे पर मंदिर निर्माण नहीं हो सका।

'रामचबूतरा' और 'सीतारसोई' का स्थान अंग्रेजी के 'एल' शेप में था जो बाबरी मस्जिद के दोनों गेट पर अवस्थित था। जिसे अंग्रेजों ने इस तर्क के साथ लोहे की रेलिंग से विभाजित कर दिया था जिससे हिंदू और मुसलमान को अपने-अपने धर्म के अनुसार पूजा पाठ कर सकें। इलाहाबाद हाईकोर्ट की लखनऊ की विशेष पीठ के समक्ष चल रहे मुकदमे में इन स्थानों को मुकदमे में बाबरी मस्जिद और उसके आंगन को 'इनर कोर्टयार्ड' तथा रामचबूतरा और सीतारसोई वाले स्थान को 'आउटर कोर्टयार्ड' की संज्ञा दी गई थी।

2010 के अपने निर्णय में हाईकोर्ट ने रामचबूतरे और सीतारसोई दोनों स्थलों पर निर्मोही अखाड़े का कब्जा मानते हुए 1969 में दायर उनके मुकदमे को कालबाधित मानने के बावजूद एक तिहाई हिस्सा निर्मोही अखाड़े को (रामचबूतरा और सीतारसोई) दिया था। इसी प्रकार सुन्नी सेंट्रल वक्फ बोर्ड के मुकदमे (1961 में दायर) को कालबाधित मानते हुए हुए विवादित परिसर का एक तिहाई हिस्सा दिया था। तीसरे प्रमुख पक्ष रामलला विराजमान के मुकदमे (1989 में दायर वाद) में एक तिहाई हिस्सा (मूर्ति रखे जाने वाले बीच गुंबद के नीचे वाले हिस्से को) दिया था। इस प्रकार मूल स्थल के इस विवादित हिस्से को तीन पार्टियों में बांट दिया गया।

रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद में 9 नवंबर 2019 को सुप्रीम कोर्ट का अंतिम निर्णय आने के बाद केंद्र की सरकार ने श्री रामजन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र ट्रस्ट गठित करके 1993 में अधिग्रहीत संपूर्ण 67.307 एकड़ जमीन को नवगठित ट्रस्ट को नये व भव्य राम मंदिर निर्माण के लिए सौंप दिया है। ट्रस्ट के अध्यक्ष अयोध्या के मणिरामदास छावनी के महंत नृत्यगोपाल दास और महामंत्री विश्व हिंदू परिषद के चंपत राय हैं।

नवगठित ट्रस्ट को जमीन सौंपे जाने के बाद ट्रस्ट ने विश्व हिंदू परिषद के पुराने मंदिर मॉडल के अनुसार ही नये और भव्य राम मंदिर का निर्माण का निर्णय किया है। अपने मंदिर मॉडल को विस्तार करते हुए इसमें संशोधन करके इसे और बड़ा कर दिया है, जिसकी लंबाई अब 360 फीट चौड़ाई 235 फीट और ऊंचाई 161 फीट तथा यह तीन तलों (मंजिल) वाला होगा।

बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद केंद्र सरकार द्वारा किए गए 67.307 एकड़ जमीन अधिग्रहण में बाबरी मस्जिद के स्थान के साथ ही जन्मस्थान मंदिर एवं अन्य छोटे-बड़े दर्जन भर मंदिर भी शामिल थे। ट्रस्ट अब इन्हें भी ध्वस्त करेगा। इनमें साक्षी गोपाल (मूलतः कृष्ण मंदिर है, जिसका आंशिक हिस्सा 1991-92 में समतलीकरण के नाम पर ढहाया जा चुका है), आनंद भवन, मानस भवन है। इसके पूर्व 1991 में कल्याण सिंह सरकार द्वारा 2.77 एकड़ जमीन अधिग्रहण किए जाने के बाद बाबरी मस्जिद के सामने समतलीकरण के नाम पर सुमित्रा भवन, साक्षी गोपाल (आंशिक) संकटमोचन और राम जानकी मंदिर सहित कई छोटे-बड़े मंदिर ध्वस्त किए गए थे। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कल्याण सिंह सरकार के दौरान सरकारी और राजनीतिक तौर पर न सिर्फ ये मंदिर ढहाए गए थे बल्कि कारसेवकों ने 6 दिसंबर 1992 को बाबरी मस्जिद के साथ-साथ हिंदुओं के प्राचीन और पवित्र स्थल 'रामचबूतरा' और 'सीतारसोई' को नेस्तनाबूद करके इतिहास के पन्नों से इनका जमीनी अस्तित्व समाप्त कर दिया।

2020 में राम के भव्य मंदिर के लिए जन्मस्थान का ढहाना भी इसी की एक कड़ी का हिस्सा बन गया है। इन स्थानों को राम के जन्म के स्थान के नाम से जाना जाता था, जो अब नहीं रहे।

अयोध्या गंगा-जमुनी संस्कृति का केंद्र माना जाता रहा है। राजनीति ने इसे विवाद का केंद्र बना दिया। सिर्फ जन्मस्थान ही नहीं अयोध्या के दर्जन भर से ज्यादा मंदिर और अखाड़ों के लिए तथा ठाकुर जी के भोग, राग, आरती के लिए जमीन तत्कालीन मुस्लिम शासकों नवाबों एवं मुस्लिम जमींदारों ने दान दी थी। इस संबंध में ऑफिशिएटिंग कमिश्नर एंड सेटलमेंट ऑफिसर पी. कारनेगी की रिपोर्ट (1866-67) में अन्य तथ्यों के अलावा मंदिरों एवं अखाड़ों की एक सूची दी थी, जिसमें दिए गए मंदिरों के महंत, उनके मंदिरों की प्राचीनता तथा उनको दी गई जमीन के बारे में बताया गया है। अयोध्या के प्रसिद्ध मंदिरों में हनुमानगढ़ी, जन्मस्थान, रामगुलेला अचारी मंदिर, रानोपाली नानकशाही मंदिर, खाकी अखाड़ा, सहित दर्जन भर मंदिरों को मुस्लिमों ने मंदिरों की स्थापना और ठाकुर के भोग, राग, आरती के लिए जमीन दान दी थीं। उदाहरण के तौर पर कारनेगी की रिपोर्ट यह बताती है कि रिपोर्ट लिखी (वर्ष 1867) जाने के लगभग सौ साल पहले 1900 वर्ष पुराने हनुमानगढ़ी मंदिर के जीर्णोद्धार और निर्माण अवधि के नवाब मंसूर अली खान ने शाही खजाने से करवाया।

समय के साथ-साथ स्थलों के भी नाम बदलते गए। बाबरी मस्जिद परिसर में अवस्थित सीतारसोई का नाम छठी पूजन स्थल हो गया। इसी प्रकार 1859 के पहले से अस्तित्व में रहे 'रामचबूतरा' के स्थान पर 'जन्मभूमि' का पत्थर (शिलापट) 1901 में लगाया गया था, जो विवादों के बाद अदालती आदेश के बाद 1903 में ही स्थापित हो सका।

इसी तरह अयोध्या के राम मंदिर को लेकर जैसे-जैसे आंदोलन बढ़ता गया 'जन्मस्थान' के शिलापट में जन्मस्थान के साथ 'सीतारसोई' भी जोड़कर इसका नाम 'जन्मस्थान सीतारसोई' कर दिया गया। यहां पर सीता की रसोई जैसी झांकी भी श्रद्धालुओं के आकर्षण हेतु अलग से बनाकर प्रदर्शित की गई थी। इसके पीछे एक कारण यह भी था कि जब श्रद्धालु जन्मस्थान का दर्शन करने आते थे, तो उन्हें आश्चर्य होता था कि राम के दो-दो जन्मस्थान! एक तरफ 'जन्मस्थान' है दूसरी तरफ रामचबूतरा राम का जन्मस्थान (जन्मभूमि)। पंडे फिर बताते थे कि यह 'जन्मस्थान' है और वह 'जन्मभूमि'।

अयोध्या की इस जन्मभूमि का अपना अलग इतिहास है। 1898 में अयोध्या में इंग्लैंड के प्रिंस एल्बर्ट एडवर्ड (रानी विक्टोरिया के बड़े पुत्र जो बाद में जार्ज सप्तम के नाम से 1901 में

राजा बने) के जन्मदिवस पर बड़ा स्थान दशरथ महल के महंत मनोहर प्रसाद की अध्यक्षता में एडवर्ड तीर्थरक्षिणी विवेचनी सभा गठित की गई थी। इसने एक हजार रुपये चंदा एकत्र किया और चंदे के इसी पैसे से अयोध्या में मंदिरों, कुंडों को चिह्नित करते हुए गुलाबी रंग के पत्थर पर उन स्थानों का नाम खुदवाकर (मील के पत्थर जैसे शिलापट) मंदिरों और कुंडों के सामने लगाए गए।

बाबरी मस्जिद से रामचबूतरा और सीतारसोई को अलग करने वाली लोहे के सींखचों वाली दीवार से सटाकर पहला पत्थर 'एक नंबर 'जन्मभूमि' के नाम से था एडवर्ड कमेटी ने 1901 में उसे लगा दिया। इसे लगाए जाने पर मुसलमानों ने ऐतराज किया और कहा कि बाबरी मस्जिद के सामने पत्थर लगाया गया है। मामला अदालत में पहुंचा तो 1903 में अदालत ने मुसलमानों की आपत्ति को खारिज करते हुए यह आदेश दिया कि यह पत्थर बाबरी मस्जिद के गेट पर नहीं बल्कि रामचबूतरा के पास है। यदि कोई इस पत्थर को उखाड़ता है तो उसे तीन हजार रुपये जुर्माना अथवा तीन साल जेल की सजा होगी।

इस प्रकार जन्मभूमि के 'एक' नंबर का पत्थर अदालत के आदेश के बाद ही पूर्णरूपेण स्थापित हो सका जबकि अयोध्या में अन्य मंदिरों एवं कुंडों की निशानदेही करते हुए 1901-1902 में ही स्थापित हो गए थे। इनमें जन्मस्थान का पत्थर भी था। तीर्थ रक्षिणी सभा ने पूरी अयोध्या में ऐसे 103 स्थानों की निशानदेही करते हुए उन स्थानों के नाम लिखे पत्थर के शिलापट लगाए थे। रामजन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र ट्रस्ट ने जन्मस्थान को भले ही ढहा दिया लेकिन जन्मभूमि का शिलापट जहां लगा था, उसे अभी भी सुरक्षित रखा है।

यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जन्मभूमि के पत्थर लगाए जाने के बाद भी बाबरी मस्जिद में 22/23 दिसंबर 1949 के पहले शुक्रवार तक जुमे की नमाज पढ़ी जाती रही जबकि मस्जिद में जाने का रास्ता रामचबूतरे के पास से होकर जाता था। रामचबूतरा और सीतारसोई पर 6 दिसंबर 1992 तक विध्वंस के पहले तक पूजा होती रही। 22/23 दिसंबर 1949 के पहले तक मस्जिद के अंदर न कोई मूर्ति थी और न पूजा-पाठ ही होता था।

अयोध्या की सह-अस्तित्व की पुरानी संस्कृति की याद दिलाते हुए जन्मस्थान जैसे प्राचीन स्थलों के विध्वंस से इसके इतिहास का एक पूरा अध्याय समाप्त कर दिया गया। इससे यही लगता है कि हिंदुत्व की राजनीति ने राम के नाम पर गंगा-जमुनी संस्कृति के प्रतीक से लेकर अयोध्या को देश के विभाजनकारी राजनीति के नाम में बदल दिया है।

साभार : द वायर

---

# गांवों में नहीं मिला काम तो मजबूर होकर दिल्ली लौटने लगे प्रवासी कामगार

■ अखिलेश पांडे

---

भारत में कोविड-19 के मामलों चिंताजनक स्तर पर इजाफा हो रहा है। भारत ब्राजील को पीछे छोड़ कर अमेरिका के बाद सबसे ज्यादा कोविड मामलों वाला देश बन गया है और राजधानी दिल्ली में इसके मामले लगातार बढ़ रहे हैं। इस बीच बिहारी कामगार काम की तलाश में वापस दिल्ली लौटने लगे हैं। मई में दिल्ली के खिजराबाद इलाके में रहने वाले 300 से ज्यादा मजदूर पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार लौट गए थे। अब तीन महीने बाद इनमें से कई मजदूर बिहार में काम हासिल करने में नाकामयाब हो कर दिल्ली वापस आ गए हैं। बिहार के सारण जिले के गरखा खंड के दिनेश राय ने मुझे बताया, 'गांव में आर्थिक तनाव झेल रहे परिवार की परेशानी को देखते हुए भूखे मरने से अच्छा है काम करते हुए मरना। वही सोच कर मैं वापस आया हूँ।'

मई के शुरुआत में रेल मंत्रालय ने देश भर के अलग-अलग शहरों में फंसे मजदूरों के लिए श्रमिक स्पेशल ट्रेनें चलाई थी। बिना सोचे समझे और बहुत खराब योजना के साथ अचानक लगाए गए राष्ट्रव्यापी लॉकडाउन से जब इन मजदूरों की स्थिति बिगड़ने लगी तब मंत्रालय ने ये ट्रेनें चलाई थी। मैंने कारवां की एक रिपोर्ट में बताया था कि इन ट्रेनों को उसी हड़बड़ी में चलाया गया है जैसी हड़बड़ी का प्रदर्शन भारत ने महामारी के लिए अपनी अकुशल प्रतिक्रिया में किया था जिसके चलते इन मजदूरों को बिना पानी और अनिश्चित हालत में अपने गांवों की यात्रा करनी पड़ी थी। गांव पहुंचकर इन मजदूरों को पता चला कि बिहार के स्वास्थ्य विभाग की महामारी से लड़ने की कोई तैयारी नहीं है और इन मजदूरों में से एक राजनाथ यादव की कोविड-19 के लक्षणों के साथ मौत हो गई जबकि उन्हें पहले सरकारी क्वारंटीन केंद्र में रखा गया था। लेकिन जो लोग बचे उनकी घर वापसी भी उनकी परेशानियों का अंत कतई नहीं थी।

राय ने मुझसे कहा, 'उनकी मौत ने कोविड-19 के प्रति हम लोगों के भीतर डर तो भर दिया लेकिन भूख ने हमें वापस यहां लौटने और जिंदा रहने के लिए काम करने को विवश कर दिया। हमारे पास दिल्ली आकर अपनी आर्थिक स्थिति ठीक करने के लिए काम करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प मौजूद नहीं था।' उन्होंने कहा, 'हम लॉकडाउन के दौरान संकट में थे और दो महीने तक संकट में रहे। फिर

हम रेल में बैठकर अपने घर जा रहे थे तो भी हम संकट में थे, जब हम कोविड-19 से संघर्ष करते हुए अपने गांवों में पहुंचे तो वहां भोजन के लिए संघर्ष कर रहे थे, तब भी हम संकट में थे। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि हम संकट का सामना करते हुए रोजी-रोटी कमाएंगे।'

राय ने बताया कि उन्हें गांव में काम नहीं मिला और वह कर्ज लेकर गुजारा कर रहे थे। उन्होंने कहा, 'गांव की स्थिति अच्छी नहीं है। मैंने अपने ग्राम प्रधान से कहा था कि वह मेरे लिए कुछ काम का इंतजाम करें लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। मई के आखिरी हफ्ते से अगस्त के आखिरी हफ्ते तक मैंने 14000 रुपए का कर्जा लिया है और मैंने पैसों के लिए अपनी पत्नी की कान की बालियां तक गिरवी रखी दी है।'

राय को दिल्ली आने के लिए बस का टिकट खरीदने तक के पैसे उधार लेने पड़े। उन्होंने मुझसे कहा, 'सारण और दिल्ली के बीच चलने वाली प्राइवेट बसें 1500 से 1800 रुपए भाड़ा ले रही हैं।' उन्होंने टिकट के लिए 1500 रुपए उधार लिए थे। राय ने कहा कि बसों में बहुत भीड़ रहती है और वहां कोई सामाजिक दूरी के नियम का पालन नहीं करता। 'बस में आना बहुत दर्दनाक था क्योंकि बस वाले अपनी सीटों की तुलना में डबल और ट्रिपल पैसेंजर भर रहे थे। हम लोगों ने जाते हुए भी बहुत कुछ झेला और आते हुए भी। परेशानी ने हमारा साथ नहीं छोड़ा।'

राय 28 अगस्त को दिल्ली लौट आए थे और तीन-चार दिन काम की तलाश करने के बाद उन्हें 'अस्थायी घर पुताई का काम मिला है।' श्रमिक स्पेशल ट्रेन में राय के साथ सारण जिले लौटे धर्मवीर साहा और दिनेश साहा भी काम की तलाश में खिजराबाद वापस आ गए हैं। लेकिन ये दोनों ट्रेन से ही लौटे हैं। इन तीनों ने मुझे बताया कि उन्होंने गांव में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम के अंतर्गत काम ढूंढा था लेकिन उन्हें काम नहीं मिला। दिनेश साहा ने मुझसे कहा, 'मैं वापस नहीं आना चाहता था और गांव में ही रह कर कुछ काम करना चाहता था। मैं अपने ग्राम प्रधान से मिला और मैंने एक फॉर्म भी भरा। मैंने अपना आधार कार्ड, बैंक खाते का विवरण और अन्य दस्तावेज भी जमा कराए लेकिन कुछ नहीं हुआ। मेरे अलावा गांव में 20-25 लड़के हैदराबाद से वापस आए थे लेकिन उन्हें भी काम नहीं मिला। हम गरीब



लोग संकट में रह रहे थे इसलिए हमारे पास यहां लौटने के अलावा कोई चारा नहीं था।’

दिल्ली पहुंचने के बाद धर्मवीर साहा और दिनेश साहा को कई दिनों तक काम नहीं मिला। धर्मवीर ने बताया कि लॉकडाउन से पहले उन्हें महीने में 30 दिन काम मिल जाता था लेकिन अब स्थिति यह है कि एक महीने में अगर 10 दिन का काम भी मिल जाए तो गनीमत मानिए। ‘मैं 24 जुलाई को दिल्ली पहुंचा था और 4 सितंबर तक मुझे सिर्फ 15 दिनों का काम मिला है।’

धर्मवीर ने आगे बताया, ‘अभी तो काम अनिश्चित है लेकिन हमें उम्मीद है कि स्थिति पहले की तरह सामान्य हो जाएगी। हमें काम चाहिए और इसलिए हमें यहां रहना होगा।’ उन्होंने बताया कि उन्हें पैसों की जरूरत सिर्फ रोजाना के खर्च निकालने के लिए नहीं है बल्कि उन्हें उन महीनों का भी किराया चुकाना है जिनमें वह यहां नहीं थे क्योंकि उन्होंने मकान खाली नहीं किया था। ‘हमें मकान मालिक को 15000 रुपए चुकाने हैं।’ धर्मवीर ने आगे कहा, ‘लेकिन अभी काम के अवसर बहुत कम हैं और मुझे लॉकडाउन के जैसी परेशानियों का सामना करना पड़ रहा है।’

इन लोगों को लॉकडाउन हटाने के सरकारी नियमों से पैदा हो रही समस्याओं का भी सामना करना पड़ रहा है। राय ने बताया कि हालांकि उन्हें थोड़ा काम मिला है लेकिन उन्हें काम की जगह पहुंचने के लिए 10 किलोमीटर से ज्यादा का सफर करना पड़ता है और रास्ते में कई तरह के कड़े प्रतिबंधों के अलावा दिल्ली की बसों में यात्रियों की संख्या पर भी अंकुश लगा है। उन्होंने कहा, ‘काम की जगह पहुंचने के लिए मैं ऑटो ले रहा हूँ और 150 रुपए दे रहा हूँ। मुझे मेरे रूट पर जाने वाले दो और लोगों की जरूरत पड़ती है ताकि भाड़ा बांट सकूँ।’ उन्होंने आगे समझाया, ‘मैं ऐसा इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि डीटीसी बसों में सफर करने पर कई पाबंदियां हैं क्योंकि इन बसों में कम यात्रियों को बैठाया जा रहा है। मुझे काम की जगह टाइम पर पहुंचना पड़ता है और इसलिए मजबूरी में मुझे ऑटो रिक्शा लेना पड़ रहा है।’

इसका आर्थिक बोझ भी इन लोगों पर पड़ रहा है। ‘अगर मैं एक दिन में 400 रुपए भी कमाता हूँ तो भी 100 रुपए तो आने-जाने में ही खर्च हो जाता है। इसके अलावा मुझे हर हफ्ते 50 रुपए की सैनियाइजर की शीशी खरीदनी पड़ती है। बहुत सारी ऐसी अतिरिक्त समस्याएं हैं और खर्च है जिनसे हमारे लौटने के बाद हमारी स्थिति बहुत कठिन हो गई है।’ इन कामगारों ने मुझे बताया कि भोजन अब भी सबसे बड़ी समस्या है। उनके पास बहुत कम पैसे हैं और कमाई का जरिया अनिश्चित है जिसके चलते भोजन का इंतजाम कर पाना मुश्किल हो गया है। भोजन के लिए उन्होंने न्यू फ्रेंड्स कॉलोनी के उस समूह से संपर्क किया जिसने लॉकडाउन के समय उनकी मदद की थी।

न्यू फ्रेंड्स कॉलोनी की मौलश्री जोशी ने मुझे बताया, ‘लोग भोजन के लिए भीख मांगने तक को तैयार हैं। लोगों को समझ नहीं आ रहा है कि जो परेशानी वे झेल रहे हैं क्या वह कभी खत्म होगी। दिहाड़ी मजदूरी करने वालों ने मुझे बताया कि उन्हें आजकल एक हफ्ते में केवल एक या दो दिन ही काम मिल रहा है और कभी-कभी तो वह भी नहीं मिलता है और वह भी कम दिहाड़ी में। लौट कर आने वालों के चेहरों पर आप उनके कड़वे अनुभवों को पढ़ सकते हैं। शहर ने उन्हें अनाथ कर दिया और गांव ने उन्हें कोई सहारा नहीं दिया। यह बात उनके लिए सदमे जैसी है।’

जोशी ने आगे बताया कि ‘आज की स्थिति 2016 में नरेन्द्र मोदी सरकार द्वारा अचानक लगाई गई नोटबंदी से बहुत अलग है। 2016 की नोटबंदी के वक्त स्थिति के सामान्य हो जाने का भरोसा था। इस बार सिर्फ उदासी है क्योंकि इससे निकलने का रास्ता नजर नहीं आ रहा। जिनकी मैं बात कर रही हूँ वे लोग दक्षिण दिल्ली की बस्ती में रहने वाले लोग हैं। ये लोग झुग्गियों में रहने वाले नहीं हैं और ना ही ये बेगरबार लोग हैं। इनमें से कई लोगों के घरों में कमाने वाला सिर्फ एक आदमी है और बच्चे स्कूलों में पढ़ते हैं। खिजराबाद के लोगों से ज्यादा बुरी हालत में जीने वालों के बारे में तो सोच कर ही डर लगता है।’ जोशी ने जोर देकर कहा कि ‘कामगार बड़ी मुश्किल से अपने आप को संभाल पा रहे हैं। इनकी जिंदगी एक कमजोर धागे से लटक रही है और अगर कोई एक आदमी बीमार हो जाए या उसकी नौकरी चले जाए तो पूरा परिवार भूखे मरने के कगार में पहुंच सकता है।’

हेमा भधवार मेहरा जो न्यू फ्रेंड्स कॉलोनी में ही रहती हैं और जोशी के साथ मदद के काम में सक्रिय हैं ने बताया कि केंद्र या राज्य सरकार से कामगारों को कोई मदद नहीं मिली। उन्होंने कहा, ‘हम सिविल सोसाइटी वाले जितना हो सकता है कर रहे हैं लेकिन प्रशासन या सरकार नदारद है। यह गंभीर चिंता की बात है और सरकार को इनकी मदद करनी चाहिए। ऐसा देख कर दुख होता है और यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि कई बार संपर्क करने के बावजूद जनता के प्रतिनिधियों ने इस मामले में कुछ नहीं किया। ऐसा लगता है कि प्रवासी मजदूरों की उन्हें कोई चिंता ही नहीं है। लोगों की नजरों से ये लोग एकदम गायब हैं और सिर्फ एनजीओ और छोटे प्राइवेट समूह इन लोगों के लिए कुछ करने का प्रयास जारी रखे हुए हैं।’

धर्मवीर के अनुसार, खिजराबाद से बिहार जाने वाले आधे से ज्यादा लोग 9 सितंबर तक काम की तलाश में दिल्ली वापस आ गए हैं। उन्होंने कहा, ‘लोग रोजाना लौट रहे हैं। ये लोग हमसे हालात के बारे में पूछ रहे हैं और वापस आने की योजना बना रहे हैं। बिना काम के कितने दिन रहा जा सकता है।’

साभार - कारवां मैगजीन

## यह कितना सच है कि महात्मा गांधी ने भगत सिंह को फांसी से बचाने की कोशिश नहीं की थी?

■ अव्यक्त

क्या ऐसा अक्सर नहीं होता कि चर्चा भगत सिंह की छिड़े और बात थोड़ी आगे बढ़ते ही गांधी तक जा पहुंचती हो? लेकिन ऐसी कितनी ही चर्चाएं प्रायः एक ऐसे मोड़ पर खत्म होती देखी जाती हैं, जहां महज 23 साल के नौजवान भगत सिंह की अद्भुत शहादत का



गुमान और एक बूढ़े गांधी द्वारा उसे बचाए न जा सकने की शिकायत एक साथ मौजूद होती है।

भगत सिंह पर बनाई गई बंबइया फिल्मों में हों या सोशल मीडिया पर युवाओं की जोशीली अभिव्यक्तियां, कई बार गांधी इनमें एक नकारात्मक भूमिका में देखे-दिखाए जाते हैं। इतना तक कि मानो भगत सिंह के नायकत्व के बरक्स असली खलनायक ब्रिटिश हुकूमत न होकर गांधी ही हों। यही वजह है कि ऐतिहासिक तथ्यों के साथ भारी छेड़छाड़ के इस विचित्र दौर में 'भगतसिंह बनाम गांधी' के इस प्रचलित नैरेटिव का एक तटस्थ मूल्यांकन किया जाना जरूरी हो जाता है।

**भगत सिंह को फांसी दिए जाने के बाद उनके समर्थकों के आक्रोश पर महात्मा गांधी की क्या राय थी ?**

24 मार्च, 1931 के दिन या भगत सिंह को फांसी दिए जाने की अगली सुबह गांधी जैसे ही कराची (आज का पाकिस्तान) के पास मालीर स्टेशन पर पहुंचे, तो लाल कुर्तीधारी नौजवान भारत सभा के युवकों ने काले कपड़े से बने फूलों की माला गांधीजी को भेंट की। स्वयं गांधीजी के शब्दों में, 'काले कपड़े के वे फूल तीनों देशभक्तों की चिता की राख के प्रतीक थे।' 26 मार्च को कराची में प्रेस के प्रतिनिधियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा—'मैं भगत सिंह और उनके साथियों की मौत की सजा में बदलाव नहीं

करा सका और इसी कारण नौजवानों ने मेरे प्रति अपने क्रोध का प्रदर्शन किया है। ...ये युवक चाहते तो इन फूलों को मेरे ऊपर बरसा भी सकते थे या मुझ पर फेंक भी सकते थे, पर उन्होंने यह सब न करके मुझे अपने हाथों से फूल लेने की छूट दी और मैंने कृतज्ञतापूर्वक

इन फूलों को लिया। बेशक, उन्होंने 'गांधीवाद का नाश हो' और 'गांधी वापस जाओ' के नारे लगाए और इसे मैं उनके क्रोध का सही प्रदर्शन मानता हूँ।'

लेकिन इसी प्रेस कॉन्फ्रेंस में उन्होंने आगे कहा था— 'आत्म-दमन और कायरता से भरे दबूपने वाले इस देश में हमें इतना अधिक साहस और बलिदान नहीं मिल सकता। भगत सिंह के साहस और बलिदान के सामने मस्तक नत हो जाता है। लेकिन यदि मैं अपने नौजवान भाइयों को नाराज किए बिना कह सकूँ तो मुझे इससे भी बड़े साहस को देखने की इच्छा है। मैं एक ऐसा नम्र, सभ्य और अहिंसक साहस चाहता हूँ जो किसी को चोट पहुंचाए बिना या मन में किसी को चोट पहुंचाने का तनिक भी विचार रखे बिना फांसी पर झूल जाए।'

**अहिंसा को जीवन साधना और लक्ष्य मानने वाले गांधी तो मृत्युदंड के ही विरोधी थे**

भगत सिंह को फांसी से बचाने में गांधी के विफल रहने के बारे में प्रचलित धारणाओं को इस नजरिए से भी देखा जाना चाहिए। अहिंसा के साधक गांधी किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार की सजा देने के विरोधी रहे थे। भगत सिंह से पहले उन्होंने अन्य मामलों में भी किसी को भी मृत्युदंड दिए जाने का विरोध किया था। उच्च कोर्ट के आस्तिक गांधी यह मानते थे कि किसी

की जान लेने का हक केवल उसे ही है जिसने वह प्राण दिया है। यानी प्रकृति का नियम या ईश्वर ही किसी की जान ले सकता है, न कि कोई मनुष्य, सरकार या मनुष्य द्वारा बनाई कोई व्यवस्था।

26 मार्च, 1931 को कराची अधिवेशन में भगत सिंह के संदर्भ में ही बोलते हुए उन्होंने कहा था—‘आपको जानना चाहिए कि खूनी को, चोर को, डाकू को भी सजा देना मेरे धर्म के विरुद्ध है। इसलिए इस शक की तो कोई वजह ही नहीं हो सकती कि मैं भगत सिंह को बचाना नहीं चाहता था।’ इस सभा में नौजवान भारत सभा के सदस्य भी बड़ी संख्या में मौजूद थे। दीवान चमनलाल जो नौजवान भारत सभा के सचिव थे, वे तो गांधी के अन्यतम सहयोगियों में से ही थे और वहां भी उनके साथ ही थे। इतने संवेदनशील और भावुक माहौल में भी गांधी पूरे होश में और पूरी करुणा से अपनी बात रख रहे थे।

तभी किसी ने चिल्लाकर पूछा—‘आपने भगत सिंह को बचाने के लिए किया क्या?’

इस पर गांधी ने जवाब दिया—‘मैं यहां अपना बचाव करने के लिए नहीं बैठा था, इसलिए मैंने आपको विस्तार से यह नहीं बताया कि भगत सिंह और उनके साथियों को बचाने के लिए मैंने क्या-क्या किया। मैं वाइसराय को जिस तरह समझा सकता था, उस तरह से मैंने समझाया। समझाने की जितनी शक्ति मुझमें थी, सब मैंने उन पर आजमा देखी। भगत सिंह की परिवार वालों के साथ निश्चित आखिरी मुलाकात के दिन यानी 23 मार्च को सवेरे मैंने वाइसराय को एक खानगी (अनौपचारिक) खत लिखा। उसमें मैंने अपनी सारी आत्मा उड़ेल दी थी। पर सब बेकार हुआ।’

भगत सिंह को बचाने के लिए वाइसराय को लिखी उस अनौपचारिक चिट्ठी में गांधीजी ने उन्हें जनमत का वास्ता देते हुए लिखा था—‘जनमत चाहे सही हो या गलत, सजा में रियायत चाहता है। जब कोई सिद्धांत दांव पर न हो तो लोकमत का मान रखना हमारा कर्तव्य हो जाता है। ...मौत की सजा पर अमल हो जाने के बाद तो वह कदम वापस नहीं लिया जा सकता। यदि आप यह सोचते हैं कि फैसले में थोड़ी सी भी गुंजाइश है, तो मैं आपसे यह प्रार्थना करूंगा कि इस सजा को, जिसे फिर वापस नहीं लिया जा सकता, आगे और विचार करने के लिए स्थगित कर दें। ...दया कभी निष्फल नहीं जाती।’

भगत सिंह के बचपन के एक साथी जयदेव गुप्ता जो उस सभा में मौजूद थे, उन्होंने बाद में लिखा कि ‘उस सभा का वातावरण मिश्रित प्रकार का था। लोग दो धड़ों में बंट गए थे। एक धड़ा गांधी के पक्ष में था और दूसरा विरोध में। लेकिन महात्मा

गांधी इतने अद्भुत वक्ता थे कि उन्होंने अपनी तार्किक बातों, मीठी आवाज, शांत और मृदुल अंदाज से सबको यह भरोसा दिला दिया कि भगत सिंह को बचाने की जितनी कोशिश की जा सकती थी वह की गई।’

लेकिन तब भी और आज भी एक ऐसा वर्ग है जो मानता है कि संयोगवश उसी दौरान एक अन्य संदर्भ में हो रहे गांधी-इरविन समझौते में भगत सिंह की रिहाई भी एक शर्त के रूप में डाली जा सकती थी। गांधी ने इसका जवाब देते हुए इसी सभा में कहा था—‘आप कहेंगे कि मुझे एक बात और करनी चाहिए थी—सजा को घटाने के लिए समझौते में एक शर्त रखनी चाहिए थी। ऐसा नहीं हो सकता था। और समझौता वापस ले लेने की धमकी को तो विश्वासघात कहा जाता। कार्यसमिति इस बात में मेरे साथ थी कि सजा को घटाने की शर्त समझौते की शर्त नहीं हो सकती थी। इसलिए मैं इसकी चर्चा तो समझौते की बातों से अलग ही कर सकता था। मैंने उदारता की आशा की थी। मेरी वह आशा सफल होने वाली नहीं थी, पर इस कारण समझौता तो कभी नहीं तोड़ा जा सकता।’

इससे करीब दो महीने पहले 31 जनवरी, 1931 को भी इलाहाबाद में गांधी कह चुके थे—‘जिन कैदियों को फांसी की सजा मिली है, उन कैदियों को फांसी नहीं मिलनी चाहिए। पर यह तो मेरी निजी राय है। इसे समझौते की शर्त बना सकते हैं या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।’

ऐसा नहीं था कि भगत सिंह के क्रांतिकारी आदर्शों को गांधी समझते न थे। किसानों और मजदूरों के प्रति भगत सिंह और उनके साथियों की प्रतिबद्धताओं से गांधी बखूबी वाकिफ थे। लेकिन इस बारे में वे एकदम स्पष्ट और सख्त थे कि उसका साधन केवल और केवल अहिंसा ही होनी चाहिए। विशेषकर नौजवान भारत सभा के सदस्यों की ओर इशारा करते हुए गांधी ने कराची अधिवेशन में कहा था—‘उन नौजवानों से मैं यह जरूर कहूंगा कि उनके पैदा होने के बहुत पहले से मैं किसानों और मजदूरों की सेवा करता आया हूं। मैं उनके साथ रहा हूं। उनके सुख-दुःख में भाग लिया है। जबसे मैंने सेवा का व्रत लिया है, तभी से मैं अपना सिर मानवजाति को अर्पण कर चुका हूं।’

वहीं जब भगत सिंह को फांसी के बाद कानपुर में भयंकर दंगे छिड़ गए, तो इस संदर्भ में गांधीजी ने कहा—‘अखबारों से पता चलता है कि भगत सिंह की शहादत से कानपुर के हिन्दू पागल हो गए, और भगत सिंह के सम्मान में दुकान न बंद करने वालों को धमकाने लगे। नतीजा आपको मालूम ही है। मेरा

विश्वास है कि अगर भगत सिंह की आत्मा कानपुर के इस कांड को देख रही है, तो वह अवश्य गहरी वेदना और शर्म अनुभव करती होगी। मैं यह इसलिए कहता हूँ कि मैंने सुना है कि वह अपनी टेक का पक्का था।'

भगत सिंह को फांसी मिलने के एक महीने पहले जब गांधी वाइसराय से मिलने गए थे, तब भी उन्होंने भगत सिंह की सजा मुलतवी करने की मांग की थी। बिड़ला द्वारा इस मुलाकात के बारे में पूछे जाने पर 18 फरवरी, 1931 को गांधी ने कहा था—'मैंने उनसे भगत सिंह की बात की। ...मैंने भगत सिंह के बारे में कहा, वह बहादुर तो है ही पर उसका दिमाग ठिकाने नहीं है, इतना जरूर कहूंगा। फिर भी मृत्युदंड बुरी चीज है। क्योंकि वह ऐसे व्यक्ति को सुधरने का अवसर नहीं देती। मैं तो मानवीय दृष्टिकोण से यह बात आपके सामने रख रहा हूँ और देश में नाहक तूफान न उठ खड़ा हो, इसलिए सजा मुलतवी कर देने का इच्छुक हूँ। मैं तो उसे छोड़ दूँ, लेकिन कोई सरकार उसे छोड़ देगी ऐसी आशा मुझे नहीं है।'

दरअसल भगत सिंह के बारे में ब्रिटिश हुकूमत शुरू से ही गलतफहमियों का शिकार थी। क्रांतिकारियों के तौर-तरीकों के बारे में यह गलतफहमी उस दौरान भारतीयों के एक बड़े वर्ग में भी मौजूद थी। ऊपर-ऊपर से हिंसक दिखने वाले तौर-तरीकों की वजह से ब्रिटिश हुकूमत इन इन्कलाबियों के प्रति बेहद सख्त रवैया अपनाए हुई थी। गांधी समेत अन्य कई नेता इन युवाओं के जोश से प्रभावित अवश्य थे, लेकिन इनके तौर-तरीकों की वजह से वे इनसे परहेज भी करते थे। इसलिए जेल में भगत सिंह अपने, और साथियों के साथ दुर्व्यवहार के विरुद्ध जब अनशन पर बैठ गए और जवाहरलाल नेहरू ने उनकी पैरवी की थी, तो गांधी ने नेहरू को चिट्ठी लिखकर इसे एक 'असंगत' कार्य बताया था।

भगत सिंह और उनके साथियों के प्रति ब्रिटिश हुकूमत पागलपन की हद तक भयभीत हो चुकी थी। और इसलिए सरकारी गुप्तचर उन सभी के पीछे पड़े हुए थे जिनके बारे में उन्हें थोड़ा सा भी लगता था कि इन्हें भगत सिंह से सहानुभूति हो सकती है। इनमें नेहरू, पटेल और मालवीय से लेकर तेजबहादुर सप्रू तक थे। माना जाता है कि भगत सिंह की फांसी के बाद ब्रिटिश इंटेलिजेंस को यह देखने तक के लिए लगाया गया था कि इस पर गांधी, नेहरू और पटेल इत्यादि की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया क्या थी।

लेकिन अंतिम अवस्था तक आते-आते गांधी को भगत सिंह के प्रति बहुत अधिक सहानुभूति हो चली थी। जब भगत सिंह को तय समय से एक दिन पहले ही फांसी दिए जाने की खबर मिली तो गांधी काफी देर के लिए मौन में चले गए थे।

23 मार्च, 1931 को भगत सिंह की फांसी के संबंध में दिए गए अपने वक्तव्य में गांधी ने कहा था—'भगत सिंह और उनके साथी फांसी पाकर शहीद हो गए हैं। ऐसा लगता है मानो उनकी मृत्यु से हजारों लोगों की निजी हानि हुई है। इन नवयुवक देशभक्तों की याद में प्रशंसा के जो शब्द कहे जा सकते हैं, मैं उनके साथ हूँ। ...मेरा निश्चित मत है कि सरकार द्वारा की गई इस गंभीर भूल के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता प्राप्त करने की हमारी शक्ति में वृद्धि हुई है और उसके लिए भगत सिंह और उनके साथियों ने मृत्यु का वरण किया है।'

भगत सिंह को श्रद्धांजलि देते हुए गांधी ने 29 मार्च, 1931 को गुजराती नवजीवन में लिखा था—'वीर भगत सिंह और उनके दो साथी फांसी पर चढ़ गए। उनकी देह को बचाने के बहुतेरे प्रयत्न किए गए, कुछ आशा भी बंधी, पर वह व्यर्थ हुई। भगत सिंह को जीवित रहने की इच्छा नहीं थी; उन्होंने माफी मांगने से इनकार किया। यदि वे जीते रहने को तैयार होते, तो या तो वह दूसरों के लिए काम करने की दृष्टि से होता या फिर इसलिए होता कि उनकी फांसी से कोई आवेश में आकर व्यर्थ ही किसी का खून न करे। भगत सिंह अहिंसा के पुजारी नहीं थे, लेकिन वे हिंसा को भी धर्म नहीं मानते थे। वे अन्य उपाय न देखकर खून करने को तैयार हुए थे। उनका आखिरी पत्र इस प्रकार था : 'मैं तो लड़ते हुए गिरफ्तार हुआ हूँ। मुझे फांसी नहीं दी जा सकती। मुझे तोप से उड़ा दो, गोली मारो।' इन वीरों ने मौत के भय को जीता था। इनकी वीरता के लिए इन्हें हजारों नमन हों।'

हालांकि अहिंसा के पुजारी गांधी हमेशा ही चेताते रहे कि तमाम शहादत और नेकनीयती के बावजूद जांबाज क्रांतिकारियों के हिंसामार्ग का अतिशयोक्तिपूर्ण महिमामंडन न हो। वैसे भी यदि लाला लाजपत राय की मौत का बदला और लाहौर षडयंत्र केस की छाया न पड़ती, तो भगतसिंह की वैचारिकी का स्तर अपने समय के महानतम विचारकों को जाकर छूता था। महज बीसेक साल का एक नौजवान जिसके हृदय में मनुष्यमात्र की अंतिम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आज्ञादी के लिए छटपटाहट थी। और वह क्रांतिकारी जवानी ही क्या जिसकी आध्यात्मिकता की शुरुआत प्रचंड नास्तिकता से न होती हो? इसलिए यदि भगतसिंह स्वयं जीते रहते, तो गांधी का इतना बुरा न मानते। ठीक वैसे ही, जैसे सुभाषचंद्र बोस ने अंत तक महात्मा गांधी के प्रति श्रद्धा रखी। भगतसिंह की क्रांतिकारिता को समझने के लिए जिस स्तर की करुणा हमें चाहिए होगी, शायद वैसे ही करुणा गांधी की स्थिति को समझने के लिए हममें समानुभूति भी पैदा करेगी।

साभार : सत्याग्रह

# सोशल मीडिया की बुराइयों से निपटने के लिए अच्छाई को उसी का उपयोग करने की तरकीबें सीखनी होंगी

■ अशोक वाजपेयी

## घृणा का भूगोल

इस पर, बार-बार अनेक क्षेत्रों में, चिन्ता बढ़ रही है कि भारतीय समाज में घृणा और भेदभाव लगातार फैल रहे हैं। हमारा समय इस मामले में लगभग अभूतपूर्व है कि उसमें घृणा, भेदभाव, हत्या और हिंसा को उचित मानने वाले इतने अधिक हो गये हैं। यह भी पहली बार है कि इन वृत्तियों को फैलाने के साधन बहुत बढ़ गये हैं, अत्यन्त सक्षम हैं और उनकी पहुंच हमारी जनसंख्या के बड़े भाग तक हो गयी है।

हाल में बेहद लोकप्रिय और मनलुभावन फेसबुक को लेकर जो विवाद हुआ है उससे यह स्पष्ट है कि इस मंच को राजनैतिक और नैतिक रूप से तटस्थ मानना सरासर भूल है। और यह भी कि ऊपर जिन अभद्र-असामाजिक-अमानवीय वृत्तियों का जिक्र किया गया है उन्हें फैलाने में भी उसकी दुर्भाग्यपूर्ण और अलोकतांत्रिक भूमिका है। फेसबुक के मालिकों ने अपने बचाव में जो दलीलें दी हैं वे बेहद लचर हैं और यह स्पष्ट हो रहा है कि बिना किसी औचित्य और जवाबदेही के यह मंच सत्तारूढ़ शक्तियों का पक्षधर बन गया है और उसके हितसाधन में संलग्न भी है।

एक और पहलू उभरता है जिस पर विचार करना चाहिये। फेसबुक जैसे माध्यम यह आकलन करके ही बाज़ार में आते हैं कि वहां किस तरह की वृत्तियां लोकप्रिय हैं और फैल सकती हैं। भले वह इसे स्वीकार न करे, पर फेसबुक ने घृणा और भेदभाव के पक्ष में जो कुछ किया, वह इस आकलन पर आधारित है कि भारतीय समाज में घृणा और भेदभाव तेज़ी से फैल रहे हैं और फैलाये जा सकते हैं। इस

//  
यह थोड़ा अजीब भले लगे लेकिन  
सोशल मीडिया के जरिये फैल रही  
बुराइयों से लड़ने का सबसे  
लोकतांत्रिक तरीका यही हो सकता है।

आकलन के आधार पर ही वह सक्रिय हुई है। इससे फेसबुक की बुनियादी अनैतिकता तो उजागर होती ही है, यह भी स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में इन दुष्प्रवृत्तियों की चपेट में है और सत्तारूढ़ राजनीति उसका चतुर नियोजन अपने लिए कर रही है।

गनीमत यह है कि फेसबुक पर इनका विरोध करने वाले भी मौजूद हैं और इस माध्यम की व्याप्ति को देखते हुए हमें पहले आजमायी 'दुश्मन के मंच का इस्तेमाल' करने की जुगत पर लौटना चाहिये। घृणा और भेदभाव को, किसी हद तक, प्रेम और सद्भाव की लगातार आक्रामक अभिव्यक्ति से संयमित किया जा सकता है। यह एक अनैतिक विडम्बना है कि हम ऐसे मंच का इस्तेमाल करें जो अनैतिक के पक्ष में सक्रिय-सचेष्ट हैं। लेकिन सत्तारूढ़ राजनीति ने गाली-गलौज करने वाली ट्रोल्स की जो बड़ी टीम बनायी है वह भी इसी मंच का इस्तेमाल कर रही है। उनकी संख्या अपार लगती है। पर जो भी हो, प्रेम और सद्भाव को हिम्मत नहीं हारना चाहिये, न उम्मीद छोड़नी चाहिये।

## नीचता की बेहद

सार्वजनिक जीवन में गिरावट, नैतिक और आध्यात्मिक गिरावट, राजनैतिक और सामाजिक गिरावट, थमने का नाम नहीं ले रही है। गिरावट-चौतरफ़ा है : राजनीति, सत्ता, मीडिया आदि सब इस गिरावट को तेज़ और गहरा करने में होड़ लगाये हुए हैं। और न्यायालय और अन्य संवैधानिक संस्थाएं इस गिरावट को रोकने के बजाय उसे बढ़ाने और कुतर्क से वैध ठहराने की होड़ में हैं। कोविड मामलों का आंकड़ा पचास लाख के पर



जा चुका है, बेरोजगारी का प्रतिशत ऐतिहासिक होने जा रहा है, लेकिन ससाहों से हमारे बड़े टेलीविजन चैनल एक फिल्मी अभिनेता की आत्महत्या को सबसे बड़ा राष्ट्रीय मुद्दा बनाने में पूरी नीचता से व्यस्त हैं। यही नहीं, जैसा कि सर्वथा प्रत्याशित था, बिहार के चुनावों में इस आत्महत्या को एक मुद्दा बनाने की ओर कदम उठाये जा रहे हैं। नीचे गिरने की, लगता है, हमारे सार्वजनिक जीवन में कोई हद नहीं रह गयी है : सत्ताकामी और उसकी पिछलग्गू शक्तियां नीचता की हर हद को पार करने की ओर पूरे आत्मविश्वास और आक्रामता से बढ़ रही हैं। झूठ, झांसा, दुर्चितापन, वाक्हिंगा, निराधार लांछन आदि नयी राजनीति का स्वभाव बन गये हैं। उसके लिए किसी तरह की भी नीचता जायज़ है जिससे कोई हित सधता हो।

किसी भी क्रीमत पर सफल होने की होड़ में फंसा मध्यवर्ग, जो किसी तरह के नैतिक बोध से शून्य होने को अपनी भारतीयता की पहचान मानने लगा है, नीचता के इस रौरव में मुदित मन शामिल रहा है। अलबत्ता इसके कुछ चिह्न उभर रहे हैं कि उसके कुछ हिस्से का, खासकर बेरोजगार पढ़े-लिखे नौजवानों का, अब मोहभंग हो रहा है। पुण्यनगरी इलाहाबाद में उनका एक जुलूस थालियां बजाकर रोजगार की मांग करते निकला है, कोविड महामारी को भगाने के लिए एकजुटता दिखाने के लिए नहीं। यह असन्तोष निश्चय ही बढ़ेगा। घृणा से पेट नहीं भरता और भेदभाव से रोजगार नहीं मिलता या चलता।

जो विकल्पहीनता बार-बार बतायी जाती और बिना किसी सूक्ष्म विश्लेषण के, स्वीकार की जाती रही है वह हो सकता है कि अब मिटने के करीब है। सवा सौ करोड़ से अधिक आबादी वाला इतना बड़ा देश, इतनी बड़ी सभ्यता विकल्पहीन नहीं हो सकते। विकल्प तो उभर के रहेगा। बल्कि शायद कई विकल्प होंगे। पर उन्हें कारगर होने के लिए कोमल घृणा और कोमल भेदभाव का आसान रास्ता छोड़ना होगा। उनका काम उन मुद्दों पर फिर राजनीति को केन्द्रित करने का होना चाहिये जो गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा, लोक स्वास्थ्य आदि के हैं। आज मानवीय नियति सारे संसार में घृणा-भेदभाव-हिंसा द्वारा निर्धारित की जा रही है। उसका भारत में एक अहिंसक सत्याग्रही प्रतिरोध उभरना चाहिये। हमें किसी महानायक की प्रतीक्षा नहीं है। हमें तो साधारण की गरिमा और पहल का इन्तज़ार है जो गिरावट को थाम ले।

### आधुनिकता और हिंसा

इन दिनों आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता पर कम बात होती है। यह कुछ ऐसा है कि मानो दोनों ही बीत चुकी वृत्तियां हैं। उनकी जगह क्या है, क्या आ गया है यह बहुत स्पष्ट और व्यापक रूप से मान्य नहीं हुआ है। हमारा समय कुछ इस कदर उलझा और उलझाने वाला है कि उसे किसी केन्द्रीय वृत्ति से परिभाषित करना

बहुत कठिन है। इसमें कोई सन्देह फिर भी नहीं हो सकता कि यह समय बेहद हिंसक है। भारत में अधिक, पर अन्यत्र भी कम नहीं। हिंसा की विचित्र और कई बार अप्रत्याशित दुर्भाग्यपूर्ण निरन्तरता मानवीय विकास में है।

आधुनिकता जब पश्चिम में अपने चरम पर थी और सोचने-रचने के सभी पारम्परिक स्थापत्य ध्वस्त किये जा चुके थे तब वहां दो विश्वयुद्धों, नाज़ीवाद, फ़ासीवाद और सोवियत साम्यवाद के विविध रूपों में हिंसा का ताण्डव हुआ, दशकों चला। हिंसा इतनी अधिक व्यापी कि करोड़ों लोगों का नरसंहार हुआ। आधुनिकता को इसका दुश्त्रेय है कि उसके अन्तर्गत पहले दो विश्वयुद्ध हुए और इतना भीषण नरसंहार हुआ। यह सोचने पर विवश होना पड़ता है कि आधुनिकता के मूल में जो मुक्ति का स्वप्न था वह क्यों और कैसे हिंसा के रौरव में बदल गया? उसने मुक्ति के नाम पर परतंत्रता के नये संस्करण कैसे प्रस्तुत और पुष्ट किये? यह भी याद रहना चाहिये कि आधुनिकता का एक वैकल्पिक अहिंसक संस्करण महात्मा गांधी ने भारत में विकसित किया और इतिहास में सम्भवतः सबसे विकराल औपनिवेशिक साम्राज्य का अन्त शुरू किया। इस का स्पष्ट आशय यह है कि आधुनिकता से व्यापक मुक्ति, बिना हिंसा और नरसंहार के, संभव थी।

उत्तर-आधुनिकता ने दृष्टियों की बहुलता को स्वीकार किया और आधुनिकताओं की बहुलता को भी। पर उसने भी दशहतगर्दी के रूप में हिंसा, लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के अधिक असहिष्णु और अनुदार होते रूप में व्यक्त हिंसा, हिंसा के कुछ रूपों जैसे जातीय घृणा और भेदभाव को बढ़ावा दिया। उत्तर-आधुनिकता ने, आधुनिकता का अनुगमन करते हुए, अत्याधुनिक तकनीकों का बर्बर प्रयोग करना शुरू किया। आज भारत में अत्याधुनिक तकनीक का धड़ल्ले से दुरुपयोग हिंसा-हत्या-भेदभाव-घृणा के लिए किये जाते हम लगातार देख रहे हैं। यों पहले भी उसके कुछ न कुछ तत्व सक्रिय थे, पर अब हम उत्तर-आधुनिक दौर में लोकतंत्र-न्याय-समता में कटौती, तानाशाही वृत्ति का वैध ठहराया जा रहा उदय, साम्प्रदायिक और धर्मान्धता का अपार विस्तार देख रहे हैं। पारंपरिक और आधुनिक झूठों और प्रपंचों की जगह बहुत आक्रामक ढंग से उत्तर-आधुनिक झूठों और प्रपंचों ने ले ली है। आज झूठ किसी को लज्जित नहीं करता और सच की सार्वजनिक जीवन में कोई जगह और परवाह नहीं रह गयी है। क्या उत्तर-आधुनिक हिंसा का कोई उत्तर-आधुनिक विकल्प, अहिंसक और मानवीय गरिमा की रक्षा करने वाला है या सम्भव है? उसके कोई लक्षण कहीं नज़र आते हैं, हमारे बेहद चकाचौंध और चिकने-चुपड़े समय में?

---

# युवाओं के सामने आस्था का संकट है सब बड़े उनके सामने नंगे हैं, वे किसके पदचिन्हों पर चलें!

---

नई पीढ़ी में बढ़ती दिशाहीनता, बेकारी और हताशा पर 'आवारा भीड़ के खतरे' शीर्षक के साथ यह लेख प्रसिद्ध व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई ने साल 1991 में लिखा था।

एक अंतरंग गोष्ठी सी हो रही थी युवा असंतोष पर। इलाहाबाद के लक्ष्मीकांत वर्मा ने बताया—पिछली दीपावली पर एक साड़ी की दुकान पर कांच के केस में सुंदर मॉडल खड़ी थी। एक युवक ने एकाएक पत्थर उठाकर उस पर दे मारा। कांच टूट गया। आसपास के लोगों ने पूछा कि उसने ऐसा क्यों किया? उसने तमतमाए चेहरे से जवाब दिया—हरामजादी बहुत खूबसूरत है।

हम 4-5 लेखक चर्चा करते रहे कि लड़के के इस कृत्य का क्या कारण है? क्या अर्थ है? यह कैसी मानसिकता है? यह मानसिकता क्यों बनी? बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ये सवाल दुनिया भर में युवाओं के बारे में उठ रहे हैं—पश्चिम के सम्पन्न देशों में भी और तीसरी दुनिया के गरीब देशों में भी। अमेरिका से

आवारा हिप्पी और 'हरे राम हरे कृष्ण' गाते अपनी व्यवस्था से असंतुष्ट युवा भारत आते हैं और भारत का युवा लालायित रहता है कि चाहे चपरासी का काम मिले, अमेरिका में रहूं। 'स्टेट्स' जाना है यानी चौबीस घंटे गंगा नहाना है। ये अपवाद है। भीड़-की-भीड़ उन युवकों की है, जो हताश, बेकार और क्रुद्ध हैं। संपन्न पश्चिम के युवकों के व्यवहार और भारत के युवकों के व्यवहार में अंतर है।

सवाल है उस युवक ने सुंदर मॉडल के चेहरे पर पत्थर क्यों फेंका? हरामजादी बहुत खूबसूरत है—यह उस गुस्से का कारण क्यों है? वाह, कितनी सुंदर है—ऐसा इस तरह के युवक क्यों नहीं कहते?

युवक साधारण कुर्ता पायजामा पहने था। चेहरा बुझा था



जिसकी राख में चिंगारी निकली थी पत्थर फेंकते वक्त। शिक्षित था। बेकार था। नौकरी के लिए भटकता रहा था। धंधा कोई नहीं। घर की हालत खराब। घर में अपमान बाहर अवहेलना। वह आत्मग्लानि से क्षुब्ध। घुटन और गुस्सा। एक नकारात्मक भावना। सबसे शिकायत। ऐसी मानसिकता में सुंदरता देखकर चिढ़ होती है। खिले हुए फूल बुरे लगते हैं। किसी के अच्छे घर से घृणा होती है। सुंदर कार पर थूकने का मन होता है। मीठा गाना सुनकर तकलीफ होती है। अच्छे कपड़े पहने खुशहाल साथियों से विरक्ति होती है। जिस चीज से खुशी, सुंदरता, संपन्नता, सफलता, प्रतिष्ठा का बोध होता है, उस पर गुस्सा आता है।

बूढ़े-सयाने लोगों का लड़का जब मिडिल स्कूल में होता है, तभी से शिकायतें होने लगती हैं। वे कहते हैं, ये लड़के कैसे हो गए? हमारे जमाने में ऐसा नहीं था। हम पिता, गुरु, समाज के आदरणीयों की बात सिर झुका के मानते थे। अब ये लड़के बहस करते हैं। किसी की नहीं मानते। मैं याद करता हूँ कि जब मैं छात्र था, तब मुझे पिता की बात गलत तो लगती थी, पर मैं प्रतिवाद नहीं करता था। गुरु का भी प्रतिवाद नहीं करता था। समाज के नेताओं का भी नहीं। मगर तब हम किशोरावस्था में थे, जानकारी ही क्या थी? हमारे कस्बे में दस-बारह अखबार आते थे। रेडियो नहीं। स्वतंत्रता संग्राम का जमाना था। सब नेता हमारे हीरो थे—स्थानीय भी और जवाहरलाल नेहरू भी। हम पिता, गुरु, समाज के नेताओं आदि की कमजोरियाँ नहीं जानते थे। मुझे बाद में समझ में आया कि मेरे पिता कोयले के भट्टों पर काम करने वाले गोंडों का शोषण करते थे।

पर अब मेरा ग्यारह साल का नाती पांचवीं कक्षा का छात्र है। वह सबेरे अखबार पढ़ता है, टेलीविजन देखता है, रेडियो सुनता है। वह तमाम नेताओं की पोलेँ जानता है। देवीलाल और ओमप्रकाश चौटाला की आलोचना करता है। घर में कुछ करने को कहो तो प्रतिरोध करता है - मेरी बात भी तो सुनो। दिन भर पढ़कर आया हूँ। अब फिर कहते हो कि पढ़ने बैठ जाऊँ। थोड़ी देर नहीं खेलूंगा तो पढ़ाई भी नहीं होगी। हमारी पुस्तक में लिखा है। वह जानता है कि घर में बड़े कब-कब झूठ बोलते हैं।

ऊँची पढ़ाई वाले विश्वविद्यालय के छात्र सबेरे अखबार पढ़ते हैं तो तमाम राजनीति और समाज के नेताओं के भ्रष्टाचार, पतनशीलता के किस्से पढ़ते हैं। अखबार देश को चलाने वालों और समाज के नियामकों के छल, कपट, प्रपंच, दुराचार की खबरों से भरे रहते हैं। धर्माचार्यों की चरित्रहीनता उजागर होती है। यही नेता अपने हर भाषण हर उपदेश में छात्रों से कहते हैं—युवकों, तुम्हें देश का निर्माण करना है (क्योंकि हमने नाश कर दिया)। तुम्हें चरित्रवान बनना है

(क्योंकि हम तो चरित्रहीन हैं)। शिक्षा का उद्देश्य पैसा कमाना नहीं है, नैतिक चरित्र का ग्रहण करना है (हमने शिक्षा और अशिक्षा से पैसा कमाना और अनैतिक होना सीखा)। इन नेताओं पर छात्रों-युवकों की आस्था कैसे जमे? छात्र अपने प्रोफेसर्सों के बारे में सब जानते हैं। उनका ऊँचा वेतन लेना और पढ़ाना नहीं। उनकी गुटबंदी, एक-दूसरे की टांग खींचना, नीच कृत्य, द्वेषवश छात्रों को फेल करना, पक्षपात, छात्रों का गुटबंदी में उपयोग। छात्रों से कुछ भी नहीं छिपा रहता अब। वे घरेलू मामले भी जानते हैं। ऐसे गुरुओं पर छात्र कैसे आस्था जमाएँ। ये गुरु कहते हैं—छात्रों को क्रांति करना है। वे क्रांति करने लगे तो सबसे पहले अपने गुरुओं को साफ करेंगे। अधिकतर छात्र अपने गुरुओं से नफरत करते हैं।

बड़े लड़के अपने पिता को भी जानते हैं। वे देखते हैं कि पिता का वेतन तो तीन हजार है, पर घर का ठाठ-बाट आठ हजार रुपयों का है। मेरा बाप घूस खाता है। मुझे ईमानदारी के उपदेश देता है। हमारे समय के लड़के-लड़कियों के लिए सूचना और जानकारी के इतने माध्यम खुले हैं कि वे सब क्षेत्रों में अपने बड़ों के बारे में सब कुछ जानते हैं। इसलिए युवाओं से ही नहीं बच्चों से भी अंधआज्ञाकारिता की आशा नहीं की जा सकती। हमारे यहां ज्ञानी ने बहुत पहले कहा था—‘प्राप्तेषु षोडसे वर्षे पुत्र मित्र समाचरेत।’

उन्से बात की जा सकती है, उन्हें समझाया जा सकता है। कल परसों मेरा बारह साल का नाती बाहर खेल रहा था। उसकी परीक्षा हो चुकी है और लंबी छुट्टी है। उससे घर आने के लिए उसके चाचा ने दो तीन बार कहा। डांटा। वह आ गया और रोते हुए चिल्लाया, हम क्या करें? ऐसी-तैसी सरकार की जिसने छुट्टी कर दी। छुट्टी काटना उसकी समस्या है। वह कुछ तो करेगा ही। दबाओगे तो विद्रोह कर देगा। जब बच्चे का यह हाल है तो तरुणों की प्रतिक्रियाएँ क्या होंगी।

युवक-युवतियों के सामने आस्था का संकट है। सब बड़े उनके सामने नंगे हैं। आदर्शों, सिद्धांतों, नैतिकताओं की धज्जियाँ उड़ते वे देखते हैं। वे धूर्तता, अनैतिकता, बेईमानी, नीचता को अपने सामने सफल और सार्थक होते देखते हैं। मूल्यों का संकट भी उनके सामने है। सब तरफ मूल्यहीनता उन्हें दिखती है। बाजार से लेकर धर्मस्थल तक। वे किस पर आस्था जमाएँ और किसके पदचिन्हों पर चलें? किन मूल्यों को मानें?

यूरोप में दूसरे महायुद्ध के दौरान जो पीढ़ी पैदा हुई उसे लॉस्ट जनरेशन’(खोई हुई पीढ़ी) कहा जाता है। युद्ध के दौरान अभाव, भुखमरी, शिक्षा, चिकित्सा की ठीक व्यवस्था नहीं। युद्ध में सब बड़े लगे हूँ तो बच्चों की परवाह कौन करे। बच्चों के बाप



और बड़े भाई युद्ध में मारे गए। घर का, संपत्ति का, रोजगार का नाश हुआ। जीवन मूल्यों का नाश हुआ। ऐसे में बिना उचित शिक्षा, संस्कार, भोजन, कपड़े के विनाश और मूल्यहीनता के बीच जो पीढ़ी बढ़कर जवान हुई वो खोई हुई पीढ़ी। उसके पास निराशा, अंधकार, असुरक्षा, अभाव, मूल्यहीनता के सिवा कुछ नहीं था। विश्वास टूट गए थे। यह पीढ़ी निराशा, विध्वंसवादी, अराजक, उपद्रवी, नकारवादी हुई। अंग्रेज लेखक जार्ज ओसबर्न ने इस क्रुद्ध पीढ़ी पर नाटक लिखा था जो बहुत पढ़ा गया और उस पर फिल्म भी बनी। नाटक का नाम है—‘लुक बैक इन एंगर’।

मगर यह सिलसिला यूरोप के फिर से व्यवस्थित और सम्पन्न हो जाने पर भी चलता रहा। कुछ युवक समाज के ‘ड्रॉप आउट’ हुए। ‘बीट जनरेशन’ पैदा हुई। औद्योगीकरण के बाद यूरोप में काफी प्रतिशत बेकारी है। ब्रिटेन में अठारह प्रतिशत बेकारी है। अमेरिका ने युद्ध नहीं भोगा। मगर व्यवस्था से असंतोष वहां भी पैदा हुआ। अमेरिका में भी लगभग बीस प्रतिशत बेकारी है। वहां एक ओर बेकारी से पीड़ित युवक हैं तो दूसरी ओर अतिशय सम्पन्नता से पीड़ित युवक भी। जैसे यूरोप में वैसे ही अमेरिकी युवकों, युवतियों का असंतोष, विद्रोह, नशेबाजी, यौन स्वच्छंदता और विध्वंसवादिता में प्रकट हुआ। जहां तक नशीली वस्तुओं के सेवन का सवाल है, यह पश्चिम में तो है ही, भारत में भी खूब है। दिल्ली विश्वविद्यालय के पर्यवेक्षण के अनुसार दो साल पहले (1989 में) सत्तावन फीसदी छात्र और पैंतीस फीसदी छात्राएं नशे के आदी पाए गए। दिल्ली तो महानगर है। छोटे शहरों में, कस्बों में नशे आ गए हैं। किसी-किसी पान की दुकान में नशा हर कहीं मिल जाता है। ‘स्मैक’ और ‘पाट’ टाफी की तरह उपलब्ध हैं।

छात्रों-युवकों को क्रांति की, सामाजिक परिवर्तन की शक्ति मानते हैं। सही मानते हैं। अगर छात्रों-युवकों में विचार हो, दिशा हो, संगठन हो और सकारात्मक उत्साह हो, वे अपने से ऊपर की पीढ़ी की बुराइयों को समझें तो उन्हीं बुराइयों के उत्तराधिकारी न बनें, उनमें अपनी ओर से दूसरी बुराइयां मिलाकर पतन की परंपरा को आगे नहीं बढ़ाएं। सिर्फ आक्रोश तो आत्मक्षय करता है।

एक हर्बर्ट मार्क्यूस चिंतक हो गए हैं, जो सदी के छठे दशक में बहुत लोकप्रिय हो गए थे। वे ‘स्टूडेंट पावर’ में बहुत विश्वास करते थे। मानते थे कि छात्र क्रांति कर सकते हैं। वैसे सही बात यह है कि अकेले छात्र क्रांति नहीं कर सकते। उन्हें समाज के दूसरे वर्गों को शिक्षित करके चेतनाशील बनाकर संघर्ष में साथ लेना होगा। लक्ष्य निर्धारित करना होगा। आखिर क्या बदलना है यह तो तय हो। अमेरिका में हर्बर्ट मार्क्यूस से प्रेरणा पाकर छात्रों ने नाटक ही किए। हो

ची मिन्ह और चे गुवेरा के बड़े-बड़े चित्र लेकर जुलूस निकालना और भद्दी, भौंड़ी, अश्लील हरकतें करना। अमेरिकी विश्वविद्यालयों की पत्रिकाओं में बेहद फूहड़ अश्लील चित्र और लेख कहानी। फ्रांस के छात्र अधिक गंभीर शिक्षित थे। राष्ट्रपति द गाल के समय छात्रों ने सोरोबोन विश्वविद्यालय में आंदोलन किया। लेखक ज्यां पाल सात्र ने उनका समर्थन किया। उनका नेता कोहने बेंडी प्रबुद्ध और गंभीर युवक था। उनके लिए राजनीतिक क्रांति करना तो संभव नहीं था। फ्रांस के श्रमिक संगठनों ने उनका साथ नहीं दिया। पर उनकी मांगें ठोस थीं जैसे शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन। अपने यहां जैसी नकल करने की छूट की क्रांतिकारी मांग उनकी नहीं थी। पाकिस्तान में भी एक छात्र नेता तारिक अली ने क्रांति की धूम मचाई। फिर वह लंदन चला गया।

युवकों का यह तर्क सही नहीं है कि जब सब पतित हैं तो हम क्यों नहीं हों। सब दलदल में फंसे हैं तो जो लोग नए हैं, उन्हें उन लोगों को वहां से निकालना चाहिए। यह नहीं कि वे भी उसी दलदल में फंस जाएं। दुनिया में जो क्रांतियां हुई हैं, सामाजिक परिवर्तन हुए हैं, उनमें युवकों की बड़ी भूमिका रही है। मगर जो पीढ़ी ऊपर की पीढ़ी की पतनशीलता अपना ले, क्योंकि वह सुविधा की है और उसमें सुख है, वह पीढ़ी कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। ऐसे युवक हैं, जो क्रांतिकारिता का नाटक बहुत करते हैं, पर दहेज भरपूर लेते हैं। कारण बताते हैं—मैं तो दहेज को ठोकर मारता हूं, पर पिताजी के सामने झुकना पड़ा। यदि युवकों के पास दिशा हो, विचारधारा हो, संकल्पशीलता हो, संगठित संघर्ष हो तो वे परिवर्तन ला सकते हैं।

पर मैं देख रहा हूं एक नई पीढ़ी अपने से ऊपर की पीढ़ी से अधिक जड़ और दकियानूस हो गई है। यह शायद हताशा से उत्पन्न भाग्यवाद के कारण हुआ है। अपने पिता से अधिक तत्ववादी, बुनियादपरस्त (फंडामेंटलिस्ट) लड़का है।

दिशाहीन, बेकार, हताश, नकारवादी और विध्वंसवादी युवकों की यह भीड़ खतरनाक होती है। इसका उपयोग खतरनाक विचारधारा वाले व्यक्ति और समूह कर सकते हैं। इस भीड़ का उपयोग नेपोलियन, हिटलर और मुसोलिनी ने किया। यह भीड़ धार्मिक उन्मादियों के पीछे चलने लगती है। यह भीड़ किसी भी ऐसे संगठन के साथ हो सकती है जो उन्माद और तनाव पैदा कर दे। फिर इस भीड़ से विध्वंसक काम कराए जा सकते हैं। यह भीड़ फासिस्टों का हथियार बन सकती है। हमारे देश में यह भीड़ बढ़ रही है। इसका उपयोग भी हो रहा है। आगे इस भीड़ का उपयोग सारे राष्ट्रीय और मानव मूल्यों के विनाश के लिए, लोकतंत्र के नाश के लिए करवाया जा सकता है।

---

# आपातकाल की कमाल की व्याख्या करती पांच लघुकथाएं

---

आपातकाल में जो और जैसे हुआ उसको प्रसिद्ध व्यंग्यकार शरद जोशी की इन पांच लघु व्यंग्य कथाओं के जरिये संक्षेप में, बड़ी सरलता से समझ सकते हैं।

## लक्ष्य की रक्षा

एक था कछुआ, एक था खरगोश जैसा कि सब जानते हैं। खरगोश ने कछुए को संसद, राजनीतिक मंच और प्रेस के बयानों में चुनौती दी—अगर आगे बढ़ने का इतना ही दम है, तो हमसे पहले मंजिल पर पहुंचकर दिखाओ। रेस आरंभ हुई। खरगोश दौड़ा, कछुआ चला धीरे-धीरे अपनी चाल।

जैसा कि सब जानते हैं आगे जाकर खरगोश एक वृक्ष के नीचे आराम करने लगा। उसने संवाददाताओं को बताया कि वह राष्ट्र की समस्याओं पर गम्भीर चिंतन कर रहा है, क्योंकि उसे जल्दी ही लक्ष्य तक पहुंचना है। यह कहकर वह सो गया। कछुआ लक्ष्य तक धीरे-धीरे पहुंचने लगा।

जब खरगोश सो कर उठा, उसने देखा कि कछुआ आगे बढ़ गया है, मेरे हारने और बदनामी के स्पष्ट आसार हैं। खरगोश ने तुरंत आपातकाल घोषित कर दिया। उसने अपने बयान में कहा कि प्रतिगामी पिछड़ी और कंजरवेटिव (रूढ़िवादी) ताकतें आगे बढ़ रही हैं, जिनसे देश को बचाना बहुत ज़रूरी है। और लक्ष्य छूने के पूर्व कछुआ गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया।

.....

## शेर की गुफा में न्याय

जंगल में शेर के उत्पात बहुत बढ़ गए थे। जीवन असुरक्षित था और बेहिसाब मौतें हो रही थीं। शेर कहीं भी, किसी पर हमला कर देता था। इससे परेशान हो जंगल के सारे पशु इकट्ठा हो वनराज शेर से मिलने गए। शेर अपनी गुफा से बाहर निकला : कहिए क्या बात है?

उन सबने अपनी परेशानी बताई और शेर के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई। शेर ने अपने भाषण में कहा :

‘प्रशासन की नजर में जो कदम उठाने हमें ज़रूरी हैं, वे हम उठाएंगे। आप इन लोगों के बहकावे में न आवें जो हमारे खिलाफ हैं। अफवाहों से सावधान रहें, क्योंकि जानवरों की मौत के सही आंकड़े हमारी गुफा में हैं जिन्हें कोई भी जानवर अंदर आकर देख सकता है। फिर भी अगर कोई ऐसा मामला हो तो आप मुझे बता सकते हैं या अदालत में जा सकते हैं।’

चूँकि सारे मामले शेर के खिलाफ थे और शेर से ही उसकी शिकायत करना बेमानी था इसलिए पशुओं ने निश्चय किया कि वे अदालत का दरवाजा खटखटाएंगे।

जानवरों के इस निर्णय की खबर गीदड़ों द्वारा शेर तक पहुंच गई थी। उस रात शेर ने अदालत का शिकार किया। न्याय के आसन को पंजों से घसीट अपनी गुफा में ले आया।

जंगल में इमर्जेंसी घोषित कर दी गई। शेर ने अपनी नई घोषणाओं में बताया : जंगल के पशुओं की सुविधा के लिए, गीदड़ मंडली के सुझावों को ध्यान में रखकर हमने अदालत को सचिवालय से जोड़ दिया है, ताकि न्याय की गति बढ़े और व्यर्थ की ढिलाई समाप्त हो। आज से सारे मुकदमों की सुनवाई और फैसले हमारे गुफा में होंगे।

इमर्जेंसी के दौर में जो पशु न्याय की तलाश में शेर की गुफा में घुसा उसका अंतिम फैसला कितनी शीघ्रता से हुआ इसे सब जानते हैं।

.....

## क्रमशः प्रगति

खरगोश का एक जोड़ा था, जिनके पांच बच्चे थे।

एक दिन भेड़िया जीप में बैठकर आया और बोला—असामाजिक तत्वों तुम्हें पता नहीं सरकार ने तीन बच्चों का लक्ष्य रखा है। और दो बच्चे कम करके चला गया।

कुछ दिनों बाद भेड़िया फिर आया और बोला कि सरकार ने लक्ष्य बदल दिया और एक बच्चे को और कम कर चला गया। खरगोश के जोड़े ने सोचा, जो हुआ सो हुआ, अब हम शांति से रहेंगे। मगर तभी जंगल में इमर्जेंसी लग गई।

कुछ दिन बाद भेड़िये ने खरगोश के जोड़े को थाने पर बुलाया और कहा कि सुना है, तुम लोग असंतुष्ट हो सरकारी निर्णयों से और गुप्त रूप से कोई षड्यंत्र कर रहे हो? खरगोश से साफ इनकार करते हुए सफाई देनी चाही, पर तभी भेड़िये ने बताया कि इमर्जेंसी के नियमों के तहत सफाई सुनी नहीं जाएगी।

उस रोज थाने में जोड़ा कम हो गया।

दो बच्चे बचे। मूर्ख थे। मां-बाप को तलाशने खुद थाने पहुंच गए। भेड़िया उनका इंतजार कर रहा था। यदि थाने नहीं जाते तो वे इमर्जेंसी के बावजूद कुछ दिन और जीवित रह सकते थे।

.....

## कला और प्रतिबद्धता

कोयल का कंठ अच्छा था, स्वरों का ज्ञान था और राग-रागिनियों की थोड़ी बहुत समझ थी। उसने निश्चय किया कि वह संगीत में अपना कैरियर बनाएगी। जाहिर है उसने शुरुआत आकाशवाणी से करनी चाही।

कोयल ने आवेदन किया। दूसरे ही दिन उसे ऑडिशन के लिए बुलावा आ गया। वे इमर्जेंसी के दिन थे और सरकारी कामकाज की गति तेज हो गई थी।

कोयल आकाशवाणी पहुंची। स्वर परीक्षा के लिए वहां तीन गिद्ध बैठे हुए थे। 'क्या गाऊं?' कोयल ने पूछा।

गिद्ध हंसे और बोले, 'यह भी कोई पूछने की बात है। बीस सूत्री कार्यक्रम पर लोकगीत सुनाओ। हमें सिर्फ यही सुनने-सुनाने का आदेश है।'

'बीस सूत्री कार्यक्रम पर लोकगीत? वह तो मुझे नहीं आता। आप कोई भजन या गजल सुन सकते

हैं।' कोयल ने कहा।

गिद्ध फिर हंसे। 'गजल या भजन? बीस सूत्री कार्यक्रम पर हो तो अवश्य सुनाइए?'

'बीस सूत्री कार्यक्रम पर तो नहीं है।' कोयल ने कहा। 'तब क्षमा कीजिए, कोकिला जी। हमारे पास आपके लिए कोई स्थान नहीं है।' गिद्धों ने कहा।

कोयल चली आई। आते हुए उसने देखा कि म्यूजिक रूम (संगीत कक्ष) में कौओं का दल बीस सूत्री कार्यक्रम पर कोरस रिकॉर्ड करवा रहा है।

कोयल ने उसके बाद संगीत में अपनी करियर बनाने का आइडिया त्याग दिया और शादी करके ससुराल चली गई।

.....

## बुद्धिजीवियों का दायित्व

लोमड़ी पेड़ के नीचे पहुंची। उसने देखा ऊपर की डाल पर एक कौवा बैठा है, जिसने मुंह में रोटी दाब रखी है। लोमड़ी ने सोचा कि अगर कौवा गलती से मुंह खोल दे तो रोटी नीचे गिर जाएगी। नीचे गिर जाए तो मैं खा लूं।

लोमड़ी ने कौवे से कहा, 'भैया कौवे! तुम तो मुक्त प्राणी हो, तुम्हारी बुद्धि, वाणी और तर्क का लोहा सभी मानते हैं। मार्क्सवाद पर तुम्हारी पकड़ भी गहरी है। वर्तमान परिस्थितियों में एक बुद्धिजीवी के दायित्व पर तुम्हारे विचार जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता होगी। यों भी तुम ऊंचाई पर बैठे हो, भाषण देकर हमें मार्गदर्शन देना तुम्हें शोभा देगा। बोलो मुंह खोले कौवे!'

इमर्जेंसी का काल था। कौवे बहुत होशियार हो गए थे। चोंच से रोटी निकाल अपने हाथ में ले धीरे से कौवे ने कहा—'लोमड़ी बाई, शासन ने हम बुद्धिजीवियों को यह रोटी इसी शर्त पर दी है कि इसे मुंह में ले हम अपनी चोंच को बंद रखें। मैं जरा प्रतिबद्ध हो गया हूं आजकल, क्षमा करें। यों मैं स्वतंत्र हूं, यह सही है और आश्चर्य नहीं समय आने पर मैं बोलूँ भी।' इतना कहकर कौवे ने फिर रोटी चोंच में दबा ली।



# जब रवींद्रनाथ टैगोर ने राखी के जरिये बंगाल के हिंदुओं और मुसलमानों को एकजुट कर दिया था

■ दीपांजन घोष

कोलकाता में दुनिया दूसरी तरह से चलती है। नवरात्रि में बाकी देश उपवास करता है। कोलकाता में लोगों के लिए दुर्गा पूजा का मतलब होता है भव्य भोजन। पूरे देश में दशहरा उल्लास के साथ मनाया जाता है। कोलकाता में बिजया को लोगों की आंखें नम होती हैं। दीवाली के दिन बाकी भारत में लक्ष्मी

पूजा होती है तो कोलकाता में काली पूजा। इसलिए यह हैरानी की बात नहीं कि रक्षा बंधन के मामले में भी यहां का एक अलग किस्सा है।

यह किस्सा 1905 में शुरू हुआ था। उन दिनों ब्रिटिश भारत के वायसराय और गवर्नर जनरल लार्ज कर्जन ने बंगाल के विभाजन का ऐलान किया। तब के बंगाल में आज का पश्चिम बंगाल, बिहार, उड़ीसा, असम और वह इलाका भी शामिल था जिसे हम बांग्लादेश कहते हैं। क्षेत्रफल में यह फ्रांस जितना बड़ा था लेकिन इसकी आबादी कई गुना ज्यादा थी। इतने बड़े सूबे खासकर इसके पूर्वी हिस्से का प्रशासन संभालना ब्रिटिश सरकार के लिए मुश्किल साबित हो रहा था इसलिए सरकार ने इसके दो टुकड़े करने का ऐलान कर दिया। योजना के तहत असम के साथ ढाका, त्रिपुरा, नोआखाली, चटगांव और मालदा जैसे इलाकों को मिलाकर पूर्वी बंगाल और असम नाम का एक नया राज्य बनना था।

ब्रिटिश सरकार ने कहा कि ऐसा उसे मजबूरी में करना पड़ रहा है और इससे प्रशासनिक कामकाज बेहतर होगा। लेकिन बंगाली समुदाय को इसमें छिपी साजिश की गंध आ गई। बंगाल का पूर्वी हिस्सा मुस्लिम बहुल था जबकि पश्चिमी हिस्से में हिंदू समुदाय की आबादी ज्यादा थी। जल्द ही लोगों में चर्चा होने लगी कि यह अंग्रेजों की बांटो और राज करो वाली पुरानी चाल है।

बंगाल के बंटवारे का पूरे देश में भारी विरोध होने लगा। कांग्रेस ने इसके विरोध में स्वदेशी अभियान की घोषणा की। इसके तहत सारे विदेशी सामानों का बहिष्कार किया जाना था। यानी ब्रिटिश सरकार पर वहां चोट करने की तैयारी हुई जहां इसे सबसे ज्यादा दर्द हो। पूरे देश में विदेशी कपड़ों की होली जलाना आम बात हो गई।

1905 में जब ब्रिटिश सरकार ने बंगाल के बंटवारे का ऐलान किया तो इसका विरोध करते हुए रवींद्रनाथ टैगोर ने राखी को एक अलग ही अर्थ दे दिया।

लेकिन बाकी मामलों की तरह बंगाल में इस विरोध ने एक अलग और अनोखा रास्ता अख्तियार किया। इस रास्ते के प्रणेता थे रवींद्रनाथ टैगोर। टैगोर ने ऐलान किया कि बंटवारे के दिन यानी 16 अक्टूबर को राष्ट्रीय शोक दिवस होगा—बंगालियों के घर में उस दिन खाना नहीं बनेगा। बंगाल के हिंदुओं और

मुसलमानों के आपसी भाईचारे का संदेश देने के लिए टैगोर ने राखी का उपयोग किया। रवींद्रनाथ टैगोर चाहते थे कि हिंदू और मुसलमान एक दूसरे को राखी बांधें और शपथ लें कि वे जीवनभर एक-दूसरे की सुरक्षा का एक ऐसा रिश्ता बनाए रखेंगे जिसे कोई तोड़ न सके।

16 अक्टूबर को टैगोर ने गंगा में डुबकी के साथ अपना दिन शुरू किया। गंगा किनारे से उनकी अगुवाई में एक जुलूस शुरू हुआ। टैगोर कोलकाता की सड़कों पर चलते जा रहे थे और जो भी मिल रहा था उसे राखी बांध रहे थे। यह उत्साही कवि अपने साथ राखियों का अंबर लेकर निकला था। हालांकि जब उन्होंने अपने घर के पास बनी एक मस्जिद में जाकर अंदर मौजूद मौलवियों को राखी बांधने की बात कही तो लोगों को लगा कि वे उत्साह के अतिरेक में चीजों को बहुत आगे ले जा रहे हैं। लेकिन टैगोर पीछे हटने वाले नहीं थे। मौलवियों को भी इस पर कोई ऐतराज नहीं था। इस तरह जुलूस आगे बढ़ता गया।

टैगोर जहां-जहां से गुजरे, सड़क के दोनों तरफ लोगों का हुजूम उमड़ पड़ा। उनके साथ चल रहे लोग खासकर इस मौके के लिए लिखा गया उनका गीत गा रहे थे। इस गीत में ईश्वर से बंगाल को सुरक्षित और एकजुट रखने की प्रार्थना की गई थी। छतों पर खड़ी महिलाएं जुलूस पर चावल फेंक रही थीं और शंख बजा रही थीं। इस विरोध अभियान का असर हुआ। कुछ समय के लिए बंगाल विभाजित होने से बच गया। हालांकि अंग्रेजों के लिए बंगाल को संभालना मुश्किल हो रहा था इसलिए 1912 में बिहार, असम और उड़ीसा को इससे अलग कर दिया गया। इस बार यह बंटवारा भाषाई आधार पर हुआ था। इसके 35 साल बाद सीधी कार्रवाई के तहत जो खूनखराबा हुआ उसने एकजुट बंगाल के सपने का आखिरकार अंत कर दिया।

---

## किसी वाचाल देश में आदिवासियों के कम बोलने का अर्थ क्या है?

■ जसिंता केरकेट्ट

---

इस देश में कोई भी बोल-बोलकर कुछ भी बेच सकता है, कुछ भी खरीद सकता है। मसलन वो लोगों का ज़मीर खरीद लेता है, सपने बेच देता है। जो नहीं बोल पाता, उसे इस देश में मूर्ख समझा जाता है, शायद इसीलिए कम बोलने वाले, सच्चे, ईमानदार और प्रकृति के साथ चलने वाले किसी भी समुदाय को कमज़ोर समझा जाता है।

कोविड-19 को लेकर भारत में नए कदम उठाने और हवाई यात्राएं स्थगित करने के ठीक पहले मार्च में मेरा फ्रांस की राजधानी पेरिस जाना हुआ, अपने पहले कविता संग्रह 'अंगोर' के फ्रेंच अनुवाद के प्रकाशन के बाद आयोजित परिचर्चा में हिस्सा लेने।

फ्रांस की सरकार ने कोरोना को देखते हुए 2020 का पेरिस बुक फेयर, जिसमें भारत अतिथि देश था, पहले ही कैंसल कर दिया था। लेकिन शहर में छोटे समूहों में होने वाले कार्यक्रम पर पाबंदी नहीं थी। इसलिए पेरिस में लोग एक दूसरे से थोड़ी दूरी बनाकर कविताओं के माध्यम से आदिवासी समाज के संघर्ष और उनके जीवन को समझने के लिए आए।

तीन दिनों का कार्यक्रम खत्म हो चुका था और शहर बंद करने का आदेश जारी हो चुका था। देर रात तक चमकता हुआ शहर एक दिन अचानक सुनसान हो गया। पर कुछ दिनों तक बसों का परिचालन जारी था। तो मैंने पेरिस की सुनसान गलियों में एक दिन खाली बस में शहर का पूरा चक्कर लगाया। खाली-खाली सड़कें देखी, ऊंची-ऊंची मीनारें, एफिल टावर और बंद घरों की बंद दीवारें भी देखीं, जिनके पीछे पेरिस के सारे लोग कहीं छुप गए थे।

जर्मन शुभचिंतक जोहानेस लापिंग जर्मनी से मुझे लेने के लिए पेरिस आए थे। हम पेरिस से जर्मनी की ओर रवाना हुए और खबर मिली दूसरे दिन जर्मन बॉर्डर बंद कर दिए जाएंगे।

फ्रांस से 50 किलोमीटर दूर जर्मनी की सीमा के करीब हार्ट नामक पहाड़ी रेंज है। राइन प्लाटिनेट राज्य के नौसडट शहर के हार्ट नामक गांव में उसी हार्ट नामक पहाड़ी रेंज के पास लॉकडाउन के दौरान पांच महीने तक रुकना हुआ।

इस पहाड़ी रेंज में ही एक पहाड़ है 'किंग्स माउंटैन,' जहां

आज से तीन हजार साल पहले, प्रथम इंडो-यूरोपियन भाषा परिवार के सेल्टिक समुदाय के लोगों के होने का प्रमाण मिलता है।

पहाड़ पर उनकी कब्र हैं जो बड़े और चौड़े पत्थर की शकल में हैं और उस पर इतने सालों में घास बिछ गई है। लॉकडाउन के दौरान मैं इन्हीं पहाड़ों पर घंटों बैठी रहती।

लगता जैसे शाम ढलने के बाद जंगल में जिस तरह आदिवासी परिवार का एक सदस्य अपने पहाड़ी खेत पर बने मचान में चला जाता है, उसी तरह अपने समाज से दूर किसी दूसरे देश के पहाड़ पर होना जैसे किसी मचान पर होना, जहां से देश और समाज दोनों को दूर तक देखा जा सकता है।

और देखते-देखते यह सवाल मन में उठता है कि भारत इतना वाचाल क्यों है? और एक वाचाल देश में आदिवासियों के कम बोलने का अर्थ क्या है?

क्यों देश की आधी से अधिक जनता उसका ही मुंह ताकती है जो सबसे अच्छा बोलता है। चाहे झूठ ही को पूरे आत्मविश्वास से क्यों न बोलता हो।

अच्छा बोलकर कोई भी यहां सत्ता में बैठ सकता है। वह चोर-उच्चका, गुंडा या हत्यारा ही क्यों न हो। इससे समाज को कोई फर्क नहीं पड़ता है।

बोल-बोलकर कोई भी इस देश में कुछ भी बेच सकता है और कुछ भी खरीद सकता है। मसलन वह लोगों की ज़मीर खरीद लेता है और सपना बेच देता है।

यहां कोई सब कुछ बेच सकता है बड़ी सफाई से बोलते हुए। यहां कुछ लोगों की बोलने की ही नौकरी है। वे दिन-रात बोलते रहते हैं। बोलते कम और चीखते-चिल्लाते ज्यादा हैं।

यहां बोलते रहने वालों की टीआरपी सबसे आगे है। जो नहीं बोल पाता, उसे इस देश में मूर्ख समझा जाता है। जो ईमानदार, सच्चा, दिल की आवाज़ सुनने वाला और प्रकृति के साथ चलने वाला हो, ऐसा कोई भी समाज, समुदाय, आदमी कमज़ोर समझा जाता है।

और यही वजह है कि बहुत बोलने वाले कथित मुख्यधारा के लोग तय करते हैं कि आदिवासियों का विकास किस तरह किया जाए?

आदिवासियों की जगह कथित मुख्यधारा ही बोलता है, उन पर लिखता है, शोध करता है। वह कभी सुनने और संवाद करने की कोशिश नहीं करता कि जमीन पर खड़े लोगों के पास भी अपनी ज़बान है, उनकी भाषा है।

उस भाषा का कोई अर्थ भी है। वे भी बोल सकते हैं, बात कर सकते हैं। उनके पास संवाद का तरीका है। वे जो बोलते हैं, पहले से ही बहुत वाचाल कथित मुख्यधारा को उनकी बात समझ में नहीं आती।

वे अपने सिवा किसी को सुन नहीं पाने की गंभीर बीमारी से पहले ही ग्रस्त होते हैं। फिर ऐसे वाचाल देश में असल में काम कौन करता है?

मजदूर और किसान ही चुपचाप असल काम करते हैं। वही जीवन में ज़रूरी काम कर रहे होते हैं, लेकिन उनका समाज और देश में कोई सम्मान नहीं है न ही उनकी देश को परवाह है।

फिर ऐसे किसी वाचाल देश में आदिवासियों के कम बोलने का अर्थ क्या है? आदिवासी, जंगल पहाड़ों और प्रकृति के निकट रहते हुए, लगभग धरती की तरह खामोश रहने की कोशिश करते हैं।

बोलते कम और गीत ज्यादा गाते हैं। बोलने का अर्थ वे ज़रूरी भर बोलना और ज़रूरत पड़ने पर बोलना समझते हैं। जंगल पर निर्भर लोग बोलते कम और हंसते ज्यादा हैं।

उनके बीच बिना भाषा के भी सिर्फ हंसना जानने भर से भी रहा जा सकता है। वे कहते हैं जो हंसता है वहीं ज़मीन पर रहता है।

वे बदलते मौसम को देखते हैं और बता सकते हैं कि कब बारिश होगी और कब अकाल पड़ेगा। कठिन परिस्थितियों में चुपचाप मर जाते अपने परिवार के सदस्यों की मृत्यु को लोग स्वीकार कर लेते हैं। उनकी आत्मा को घर वापस बुला लेते हैं।

उनका विश्वास है कि देह मिट्टी में चली जाती है पर आदमी की ऊर्जा प्रकृति में रह जाती है। पुरखों की ऊर्जा प्रकृति के साथ मिलकर, प्रकृति के संतुलन में अपना योगदान देती है। इसलिए उनका निगेटिव, पॉजीटिव ऊर्जा या आत्माओं पर यकीन है।

उनके चुप रहने की भाषा जब कोई नहीं समझ पाता और यह उनके लिए अस्तित्व का खतरा हो जाता है तब ही हूल और उलगुलान जैसे आंदोलन शुरू होते हैं।

आज एक वाचाल देश के भीतर आदिवासी अपने अस्तित्व

के लिए संघर्षरत हैं। वे कथित मुख्यधारा की ज़बान में कुछ बोलने, लिखने की कोशिश कर रहे हैं। उनकी सारी व्यवस्था टूट रही है। उनका अपने आप पर से भरोसा खत्म हो रहा है।

दुनिया में होमोसेपियंस और होमो डेयस जैसी किताब से चर्चा में आए इजराइल के इतिहासकार और दार्शनिक युवाल नोवा हरारी कहते हैं कि दुनिया में इतनी बड़ी संख्या में मौजूद कथित मुख्यधारा के लोगों का प्रकृति के संतुलन में कोई योगदान नहीं है। वे दिमाग से खड़ी की गई धारणाओं के सहारे लगातार आदिवासियों से मूल चीजें छीन लेने का काम कर रहे हैं जो जीवन की मूल चीजों के सहारे बचे हुए हैं।

वे जोर देते हैं कि एक दिन दुनिया को आदिवासी दुनिया से ही सीखना होगा। उन लोगों से जो ज्यादा सच्चाई और वास्तविकता के साथ खड़े हैं, जिनका प्रकृति के संतुलन में बड़ी भूमिका है।

वे कहते हैं किसी भी देश की जनता को सरकार से ज़रूरी चीजों पर सवाल करना आना चाहिए। जैसे पर्यावरण संबंधी सवाल, रोजगार, बीमारी, शिक्षा आदि से संबंधित सवाल। लेकिन लोग खुद को ठीक से नहीं जानते।

लोगों से ज्यादा कंपनियां उनको जानती हैं मसलन वे क्या पसंद करते और क्या पसंद नहीं करते हैं। लोगों की ऐसी की भावनाओं का डेटा जमा किया जा रहा है। जिसके पास ज्यादा डेटा है असल में वही किसी देश के लोगों पर शासन कर रहा है।

कंपनियों के पास यह डेटा है इसलिए वे सरकार को भी नियंत्रित कर रही हैं। सरकार खुद भी ऐसा ही डेटा जमा करने की लगातार कोशिश कर रही है।

कथित मुख्यधारा हर तरह से आदिवासियों का खुद के ऊपर से ही विश्वास खत्म करने का काम करती है। आधुनिक शिक्षा, आदिवासी नज़रिया नहीं देती। वह उन्हें उनकी मूल भाषा-संस्कृति से अलग करती है।

देश में लंबे समय से एक ओर सांस्कृतिक रूप से आदिवासियों को उजाड़ देने का लंबा प्रोजेक्ट चल रहा है और दूसरी ओर सरकार और कंपनी विकास के नाम पर उनसे संसाधन छीनकर उन्हें पूरी तरह बाज़ार के इर्द-गिर्द फेंक देने का काम करती है ताकि वे जबरन शहरों में निम्न स्तर के कामों में खपाए जा सकें।

इस तरह पिछड़े वर्ग के लोग निम्न कामों में खपकर चुपचाप किसी शहर को, उसके जीवन को गति देते रहते हैं और कोई देश और उसका अभिजात वर्ग निरंतर वाचाल बना रहता है।

साभार



## इतिहास के पन्नों से

अतीत भविष्य का आधार है। इसे भुलाकर हम भविष्य की मजबूत इमारत खड़ी नहीं कर सकते। आज अगर हम चेतना संपन्न खुशहाल भारत की इबारत लिखना चाहते हैं तो हमें अतीत के पन्नों में जमीं धूल को साफ करना होगा। ताकि हफ्तों की रोशनी से हमारा मार्ग प्रशस्त हो। ऐसा मार्ग जिसमें राष्ट्र नहीं 'देश' की परिकल्पना हो। जो संविधान की प्रस्तावना 'हम, भारत के लोग...' को साकार करता हो। इतिहास के पन्नों में ऐसा ही एक अध्याय है 'अगस्त क्रांति' का।

### अगस्त क्रांति

जिसे 'भारत छोड़ो आंदोलन' के नाम से भी जाना जाता है। इस आंदोलन का लक्ष्य भारत से ब्रितानी साम्राज्य को समाप्त करना था।

### 8 अगस्त, 1942

भारत छोड़ो आंदोलन का प्रस्ताव 8 अगस्त 1942 को कांग्रेस अधिवेशन में पारित किया गया था।

### करो या मरो

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने मुंबई के ग्वालिया टैंक मैदान ( अगस्त क्रांति मैदान ) में भारत छोड़ो आंदोलन का आह्वान करते हुए देशवासियों को 'करो या मरो' का नारा दिया। इसका मूल मंत्र था कि 'या तो हम भारत को आज़ाद कराएंगे या इस प्रयास में अपनी जान दे देंगे।'

### यूसुफ मेहर अली

कांग्रेस अधिवेशन में आंदोलन का नारा क्या होना चाहिए इस बारे में कई लोगों ने अपने विचार रखे लेकिन गांधीजी को कोई नारा पसंद नहीं आ रहा था। ऐसे में यूसुफ मेहर अली ने महात्मा गांधी को एक धनुष ( बिल्ला ) भेंट किया, जिस पर 'क्विट इंडिया' ( भारत छोड़ो ) अंकित था। महात्मा गांधी ने तुरंत अनुमोदन देते हुए कहा 'आमीन' और फिर यही नारा बन गया।

### जनता का आक्रोश

208 पुलिस थाने, 1275 सरकारी दफ्तर, 382 रेलवे स्टेशन और 945 डाकघरों को जनता ने नष्ट कर दिया।



### भारत छोड़ो आंदोलन का प्रभाव

अगस्त क्रांति के दौरान छोटे-छोटे शहरों में ऐसे लोग नेता बनकर उभरे जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती। तामलुक की 71 वर्षीय वृद्धा मातंगिनी हाजरा झंडा लेकर निकलीं तो उनके पीछे 6000 लोगों की भीड़ थी। तामलुक प्रशासन ने पुलिस को गोली चलाने का आदेश दिया। इस गोलीबारी में मातंगिनी हाजरा शहीद हो गईं।

### अगस्त क्रांति का

### प्रतिनिधि स्मारक

पटना में भी छात्रों का एक जुलूस सचिवालय पर तिरंगा फहराने के लिए एकजुट हो गया। यहां भी पुलिस ने गोलीबारी की इसमें सात छात्र शहीद हो गए। इन छात्रों की प्रतिमा प्रख्यात मूर्तिकार देवीप्रसाद रायचौधरी ने बनाई जो अगस्त क्रांति का प्रतिनिधि स्मारक है।

# मुरली की धुन

■ सआदत हसन मंटो

रात भर ऊट-पटाँग ख़ाब देखता रहा। श्याम से कई मर्तबा लडाई हुई। सुबह दूधवाला आया तो मैं खोखले गुस्से में जैसे उससे कह रहा था : 'तुम बिलकुल बदल गए हो... उल्टू के पट्टे, कमीने, जलील... तुम हिंदू हो।'

नींद खुली तो मैंने महसूस किया कि मेरे मुँह से एक बहुत बड़ी गाली निकल गई है, लेकिन जब मैंने खुद को अच्छी तरह टटोला तो यक़ीन हो गया कि वह मेरा मुँह नहीं था, सियासत का भोंपू था जिससे यह गाली निकली थी। इसके मुताल्लिक सोचते हुए मैंने दूध वाले से दूध लिया जिसमें एक चौथाई पानी था। इस ख़्याल ने मुझे बड़ी ढारस दी कि श्याम हिंदू था मगर पानी मिला हिंदू नहीं था।

अर्सा हुआ, जब तक्रसीम पर हिंदू-मुसलमानों में खूँ-रेज जंग जारी थी और तरफ़ैन<sup>1</sup> के हज़ारों आदमी रोज़ाना मरते थे, श्याम और मैं रावलपिंडी से भागे हुए एक सिख़ ख़ानदान के पास बैठे थे। इसके अफ़ाद<sup>2</sup> अपने ताज़ा ज़ख़्मों की रुदाद सुना रहे थे जो बहुत ही दर्दनाक थी। श्याम मुतास्सिर हुए बग़ैर न रह सका। वह हलचल जो उसके दिलो-दिमाग़ में मच रही थी, उसको मैं बख़ूबी जानता था। जब हम वहाँ से रुख़सत हुए तो मैंने श्याम से कहा : 'मैं मुसलमान हूँ... क्या तुम्हारा जी नहीं चाहता कि मुझे क़त्ल कर दो।'

श्याम ने बड़ी संजीदगी से जवाब दिया : 'इस वक्त नहीं... लेकिन इस वक्त जबकि मैं मुसलमानों के ढाए हुए मज़ालिम<sup>3</sup> की दास्तान सुन रहा था, मैं तुम्हें क़त्ल कर सकता था।'

श्याम के मुँह से यह सुनकर मेरे दिल को जबर्दस्त धक्का लगा। उस वक्त शायद मैं भी उसे क़त्ल कर सकता था, मगर बाद में जब मैंने सोचा और उस वक्त और इस वक्त में ज़मीनो-आसमान का फ़र्क़ महसूस किया तो उन तमाम फ़सादात का नफ़िसयाती पस-मंजर<sup>4</sup> मेरी समझ में आ गया जिसमें रोज़ाना सैकड़ों बेगुनाह हिंदू और मुसलमान मौत के घाट उतारे जा रहे थे।

इस वक्त नहीं, उस वक्त, हाँ—क्यों? आप सोचिए तो आपको इस 'क्यों' के पीछे इन्सान की फ़ितरत में इस सवाल का सही जवाब मिल जाएगा।

बंबई में भी फ़िर्के वाराना कशीदगी<sup>5</sup> दिन-बा-दिन बढ़ती चली जा रही थी। बांबे टाकीज की उनायें-हुकूमत<sup>6</sup> जब अशोक और वाचा ने संभाली तो बड़े-बड़े ओहदे इतिफ़ाक से मुसलमानों के हाथ में चले गए। इससे बांबे टाकीज के हिंदू स्टाफ़ में नफरत और गुस्से की लहर दौड़ गई। वाचा को गुमानान ख़त मौसूल होने लगे जिसमें स्टूडियो को आग लगाने और मरने-मारने की धमकियाँ होती थीं। अशोक और वाचा, दोनों को उनकी कोई पर्वा नहीं थी, लेकिन कुछ ज़कीउल-हिस्<sup>7</sup> होने के बाइस और कुछ मुसलमान होने की वजह से मैं हालात की नज़ाकत को बहुत ज्यादा अहमियत दे रहा था। कई मर्तबा मैंने अशोक और वाचा से अपनी तश्वीश<sup>8</sup> का इज़हार किया और उनको राय दी कि वह मुझे बांबे टाकीज से अलग कर दें, क्योंकि हिंदू यह समझते थे कि सिर्फ़ मेरी वजह से मुसलमान वहाँ दाख़िल हो रहे हैं। मगर उन्होंने कहा कि मेरा दिमाग़ ख़राब है।

दिमाग़ मेरा वाकई ख़राब हो रहा था। बीबी-बच्चे पाकिस्तान में थे, तब से, जब वह हिंदुस्तान का एक हिस्सा था, और मैं उसे जानता था। उसमें वक्रतन फ़वक्रतन<sup>9</sup> जो हिंदू-मुस्लिम फ़सादात होते रहते थे, मैं उन से भी वाक़िफ़ था। मगर अब उस ख़िताए-ज़मीन<sup>10</sup> को नए नाम ने क्या बना दिया था, इसका मुझे इल्म नहीं था। अपनी हुकूमत क्या होती है, इस की तस्वीर भी कोशिश के बावजूद मेरे ज़ेहन में नहीं आती थी।

14 अगस्त का दिन मेरे सामने बंबे में मनाया गया। पाकिस्तान और हिंदुस्तान दोनों आज़ाद मुल्क करार दिए गए थे। लोग बहुत मसरूर<sup>11</sup> थे, मगर क़त्ल और आग की वारदात बाक्राइदा जारी थीं। 'हिंदुस्तान ज़िंदाबाद' के साथ-साथ 'पाकिस्तान ज़िंदाबाद' के नारे भी लगते थे। कांप्रेस के तिरंगे के साथ इस्लामी परचम भी लहराता था। पंडित जवाहर लाल नेहरू और क्राइदे-आज़म मुहम्मद अली जिनाह, दोनों के नारे बाज़ारों और सड़कों में गूँजते थे। समझ में नहीं आता था हिंदुस्तान अपना वतन है या पाकिस्तान। और वह लहू किसका है जो हर रोज़ इतनी बेदर्दी से बहाया जा रहा है। वह हड्डियाँ कहाँ जलाई या दफ़न की जाएँगी जिन पर वे मज़हब का गोशत-पोस्त, चीलें और गिध नोच-नोचकर खा गए थे। अब कि हम आज़ाद हुए हैं, हमारा गुलाम कौन होगा—जब गुलाम थे तो आज़ादी का तसव्वुर कर सकते थे, अब आज़ाद हुए हैं तो गुलामी का तसव्वुर क्या होगा। लेकिन सवाल यह है कि हम आज़ाद भी हुए हैं या नहीं।

हिंदू और मुसलमान धड़धड़ मर रहे थे। कैसे मर रहे थे, इन सवालों के मुख़लिफ़ जवाब थे। हिंदुस्तानी जवाब, पाकिस्तानी जवाब, अंगेजी जवाब। हर सवाल का जवाब मौजूद था, मगर उस जवाब में हकीकत तलाश करने का सवाल पैदा होता तो उसका कोई जवाब न मिलता। कोई कहता, इसे ग़दर के खंडरात में तलाश करो। कोई कहता, नहीं, यह ईस्ट इंडिया कंपनी की हुकूमत में मिलेगा। कोई और पीछे हटकर इसे मुग़लिया ख़ानदान की तारीख़ में टटोलने के लिए कहता। सब पीछे ही पीछे हटते जाते थे और क़ातिल और सफ़फ़ाक<sup>12</sup> बराबर आगे बढ़ते जा रहे थे और लहू और लोहे की ऐसी तारीख़ लिख रहे थे जिसका जवाब तारीख़े-आलम में कहीं भी नहीं मिलता।

(1) दो तरफ़; (2) लोग; (3) जुल्म; (4) मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य; (5) तनाव; (6) हुकूमत की बाग़डोर; (7) संवेदनशील; (8) चिंता; (9) थोड़े-थोड़े दिनों में; (10) ज़मीन का टुकड़ा; (11) आनंदित, बहुत खुश; (12) बेरहम।

## इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017